श्रीकृष्ण-संदेश
वर्ष ७ : अंक ४

निगमामृत

(श्रीसूक्त)

उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ॥ ७ ॥

वे धनके अधिदेव रमे महादेव-सखा मम पास पधारें,
काञ्चन आदि महामणि रत्नके साथ सुकीर्ति भी पाँव पसारे।
जन्म मिला मुझे मंजु महीतलमें इस भारत राष्ट्रके प्यारे
कीर्ति समृद्धि प्रदान करे धृतनेह धनाधिप गेह हमारे ॥

क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ॥ ८ ॥

होता सदा उपवास जहाँ लगी भूख-पिआस की मैल जहाँ है
नाश करूँ उस दीनताका भगिनी बड़ी जो कमलाकी यहाँ है।
वैभव-हीनता ऋद्धि-विहीनता का जो बढ़ा हुआ दुःख महा है
दूर करो सबको मम सद्मसे पद्मनिवासिनी देर कहाँ है ?

श्रीकृष्ण-सन्देश
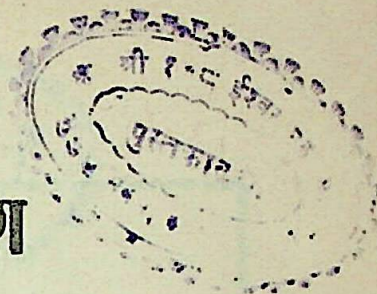
धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री जुगलकिशोर बिरला

संख्या ●

वर्ष : ७, अङ्क : ४

नवम्बर, १९७१

श्रीकृष्ण-संवत् : ५१९७

शुल्क ●

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

‘श्रीकृष्ण-सन्देश’के उद्देश्य तथा नियम

उद्देश्य : धर्म, अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखों द्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिक्य, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप कर्तव्यबोध जाग्रत् करना ‘श्रीकृष्ण-सन्देश’ का शुभ उद्देश्य है।

• नियम : उद्देश्यमें कथित विषयोंसे संबद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छाँट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें न छापनेका संपूर्ण अधिकार सम्पादकका है। अस्वीकृत लेख बिना माँगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक ही पृष्ठपर बायें हाशिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख ‘सम्पादक’ ‘श्रीकृष्ण-सन्देश’ रू० नं० ६, केलगढ़ कालोनी, जगतगंज, वाराणसीके पतेपर भेजें।

• ‘श्रीकृष्ण-सन्देश’ अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एकबार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चंदेमें उनके जीवनभर ‘श्रीकृष्ण-सन्देश’ मिलता रहेगा।

ग्राहकको अपना नाम पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनिआर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पी० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

• विज्ञापन : इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता :
व्यवस्थापक—‘श्रीकृष्ण-सन्देश’
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा
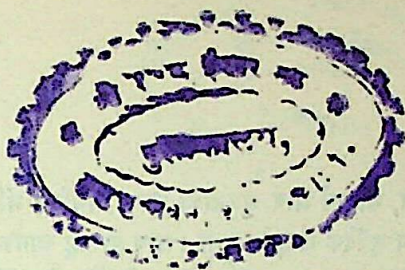
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान :

प्रत्यक्षदर्शियोंके भावभीने शब्द-सुमन

(नवम्बर १९७१)

★

वैदिक-संस्कृति ही प्राचीन संस्कृति एवं विश्व-संस्कृति है। यह भागवत-भवन-निर्माण इसी संस्कृतिके प्रचार-प्रसारमें क्रियान्वित हो रहा है। यहाँ 'साहित्य-सेवा, स्वाध्याय-श्रम, समालोचना, संशोधन, गवेषण, अध्ययन, प्रवचन, मनन आदि सर्वोत्कृष्ट कार्य सम्पादित होंगे— यह मुझे विश्वास है। मैंने कार्यकी पद्धति देखी। स्पष्ट आभास मिला। भगवान् कलानिधि, कृपानिधि, रसनिधि श्रीकृष्णचन्द्रजी स्वयं ही इस कार्यके निर्माता हैं। वे स्वयं ही सर्वशक्ति, सामग्रीकर्ता, कर्म-स्वरूप हैं।

श्री भागवत विद्यापीठ — कृष्णशंकर शास्त्री
दिव्यगिरि सोला, अहमदाबाद — नड़ियाद

आज श्रीकृष्ण-जन्मभूमिका दर्शन किया। सम्बद्धि व्यक्तियोंका व्यवहार तथा स्थानकी व्यवस्था सराहनीय है।

सहकारितामन्त्री, उत्तर प्रदेश — लक्ष्मीशंकर यादव

जन्मभूमिके मन्दिरकी प्रगतिको देखकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ।

न्यायाधीश पुनरीक्षण, लखनऊ — चन्द्रप्रकाश

हम जैसे एक छोटे मानवके द्वारा क्या वर्णन हो सकता है ? श्रीकृष्ण-जन्मस्थानको देखते ही नयन सार्थक हो जाते हैं और हमारे भारतवर्षके सनातनधर्मको याद बार-बार प्रेरणा देने लगती है। भगवान् श्रीकृष्ण परमात्माकी भक्ति और भावना हमारे हृदयको परिपूर्ण करे।

टंकपाणि रोड, — श्रीकृष्णदास
भुवनेश्वर, उड़ीसा — रघुनाथ पाणिग्रह

इस मन्दिरके निर्माण-कार्यमें जो भी सहयोग देगा, उसको जीवनकी सार्थकताके अतिरिक्त पुण्य मिलेगा। यह एक अद्वितीय कार्य है।

प्रादेशिक संगठन कमिश्नर स्काउट, उत्तर प्रदेश — प्राणनाथ शर्मा

शान्ति, सौन्दर्य और सुषमाकी भव्य विभूतिसे मंडित श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका अभिनव परिवेश देखकर हार्दिक आह्लाद हुआ। साथ ही यह जानकर सन्तोष हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनामने अपने कुलदेवताकी स्मृतिमें यहाँ महनीय मन्दिर बनवाया था। फिर प्रथम ई० पू० शताब्दीमें वसुने श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानपर मन्दिर, तोरण-द्वार और वेदिकाका निर्माण कराया था। तत्पश्चात् ४०० ई० के लगभग सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने उस भव्य, विशाल और सुन्दर मन्दिरका निर्माण कराया, जिसे परम आततायी यवन-दस्युने १०१७ में लूटा और तोड़ भी डाला। वहीं चैतन्य महाप्रभुने आकर उस भव्य और विशाल मन्दिरमें दर्शन और कीर्तन किया। सन् ११५० में जज्जने श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर पुनः एक मन्दिर बनवा दिया, जिसे सोलहवीं शताब्दीमें तत्कालीन यवन-शासकने भूमिसात् करवा दिया। वहीं पुनः देवने एक महान् मन्दिर बनवाया, जिसके शिखरपर दीपावलीकी रात्रिमें जलाये हुए दीपकोंकी माला आगरेसे भलीभांति दिखाई पड़ती थी। खेद है कि सन् १६६९ में अन्तिम धर्मान्ध मुगल-शासकने उसे ध्वस्त कराकर उसकी सामग्रीसे ईदगाह बनवा दी। फिर हर्षकी बात है कि वहींपर महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीकी प्रेरणा और श्री जुगलकिशोर बिरलाकी हार्दिक कामना तथा आर्थिक सहायतासे प्रेरित होकर भारतीय संस्कृति और धर्मसे स्नेह रखनेवाले महान् धर्मनिष्ठ डालमिया-परिवारके उदार दान द्वारा अत्यन्त विशाल और दर्शनीय भागवत-भवनका निर्माण कराया जा रहा है। कोई ऐसा भारतीय न होगा, जो इस योजनाको देखकर हर्षसे फूल न उठे और भावविभोर होकर गद्‌गद न हो जाय। हम सबकी यही इच्छा है कि पुण्य अर्जित करनेकी इच्छा रखनेवाले सभी धर्मनिष्ठ व्यक्ति इस महत्त्वपूर्ण कार्यमें योग देकर भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानका जीर्णोद्धार करानेके साथ मदान्ध और धर्मान्ध यवनोंके कुकृत्योंका परिमार्जन करके भारतका मुख उज्ज्वल करने और भारतीय संस्कृतिका केन्द्र स्थापित करनेका यश और श्रेय प्राप्त करें।

उपाचार्या-अध्यक्षा : हिन्दी-विभाग
वसन्त कन्या महाविद्यालय, वाराणसी

डा० उमाकुमारी मौडवेल
तथा सह मण्डली

I visited this temple alongwith my disciples and was favourably impressed by everything we saw.

Shovama

Sant Ashram, Sant Nagar, Varanasi

While my visit was very short, I was deeply impressed by this religious place, one of the holy cities of India. Here I leave my sincere respect.

Manvel Carrera

World Health Organisation
Sanitary Engineer, New Delhi

मासिक व्रत, पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०२८ मार्गशीर्ष कृष्ण शुक्ल प्रतिपद् १९ नवम्बर '७१ से पौष कृष्ण अमावास्या, १७ दिसम्बर '७१ तक]

नवम्बर : १९७१ ई०

तिथि	वार	दिनाङ्क	व्रत-पर्व
५	मंगल	२३	कर्कोटक नागपञ्चमी। स्कन्दषष्ठी (चम्पाषष्ठी)।
११	रवि	२८	मोक्षदा ११शी व्रत, सबके लिए। श्रीगीता जयन्ती।
१३	मंगल	३०	प्रदोष-व्रत।

दिसम्बर : १९७१ ई०

तिथि	वार	दिनाङ्क	व्रत-पर्व
१५	गुरु	२	पूर्णिमा, व्रतके लिए। श्रीदत्त-जयन्ती।
३	रवि	५	सङ्कष्टी गणेश ४र्थी व्रत।
११	सोम	१३	सफला ११शी व्रत, सबके लिए।
१३	बुध	१५	प्रदोष-व्रत। मासशिवरात्रि-व्रत।
१४	गुरु	१६	धनुसंक्रान्ति (खरवाँस)।
३०	शुक्र	१७	अमावास्या, दर्शश्राद्ध।

It was a beautiful temple which we visited on a very auspicious occassion. Thank you,

Shri & Shmt. Subrats N. Chakravarty,

Raj Bhawan, Haryana Chandigarh

I visited the sacred site today & was interested in its rejunation progromme, The place gives solace and shredha universal.

R. B. Saksena

Transport Commissioner U. P.

अनुक्रम

प्रपानक	पत्रपुट	परिवेषक

वर्ष : ७] मथुरा, नवम्बर १९७१ [अङ्क : ४

सब कुछ मुझे अर्पित कर दो !

तुम जो कुछ करो, मेरेलिए करो। मेरी आज्ञा मानकर करो। अपने लिए न करो। कर्तापनका अभिमान मनमें लेकर न करो। अपने लिए करोगे तो कर्मफलके हेतु बनोगे और फँस जाओगे। 'मैं करता हूँ' यह अभिमान लेकर करोगे तो बँध जाओगे। तुम्हारे पास काम करनेके साधन क्या हैं ? तन, मन और इन्द्रियाँ। ये सब साधन किसने दिये हैं ? मैंने—तुम्हारे भगवान्‌ने। इन साधनोंसे काम लेनेवाला कौन है ? आत्मा, क्योंकि वही इन सबका स्वामी है। इन्द्रियोंसे काम लेनेवाला आत्मा कौन है ? मेरा स्वरूप। मैं ही सबके भीतर आत्मा होकर रहता हूँ : अहमात्मा गुणकेश सर्वभूताशयस्थितः। मैं ही सब क्षेत्रों या शरीरमें क्षेत्रज्ञ बनकर बैठा हूँ : क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! इससे सिद्ध है कि मेरे दिये साधनोंसे मेरा ही स्वरूपभूत आत्मा कार्य करता है। अतः सच बात तो यह है कि मैं कर्ता हूँ। कर्ता होकर भी अकर्ता हूँ। इसलिए कि मुझमें कर्तापनका अभिमान नहीं है। इसीलिए कर्म मुझे बाँधते नहीं।

तुम इस कलाको नहीं जानते, तो जो कुछ करो मुझे अर्पित कर दो, अपने लिए कुछ भी बचाकर न रखो। फिर तुम्हें कर्मसम्बन्धी दोष और बन्धन छू नहीं सकेंगे। केवल सामान्य कर्म नहीं, भोजन भी तुम मेरे ही लिए करो। इसलिए न खाओ कि मेरी भूख मिटेगी, भोजनका स्वाद मिलेगा और खूब आनन्द प्राप्त होगा। बल्कि इसलिए कि हमारा

शरीर भगवान्‌की सेवाके लिए है, इसकी रक्षाके लिए भोजन आवश्यक है। इस भावनासे किया भोजन भी मेरे ही लिए होगा, मुझे अर्पित हो जायगा।

इसी प्रकार यदि होम करो तो उसको भी मुझे अर्पण कर दो। 'होमसे देवता प्रसन्न होंगे, मेरी लौकिक तथा पारलौकिक कामनाएँ भी पूर्ण होंगी। यह मेरे द्वारा सम्पादित पुण्य-कर्म है; अतः इसका फल भी मुझे ही मिलेगा' ये सब बातें मत सोचो। 'हवन-कर्म अग्निरूप परमेश्वरकी सेवा है, यह कर्तव्य है, इससे मेरे प्रभु प्रसन्न होंगे, इस शुभ भावनासे किया हुआ होम-यज्ञ मुझे अर्पित हो जायगा। फलासक्ति और अभिमानसे तुम बँध न पाओगे।

यदि किसीके लिए कुछ दान करो तो उसमें नाम, ख्याति या कीर्तिकी कामना न करो। संसारके लोग तुम्हें दानी समझकर आदरकी दृष्टि देखें, यह तुच्छ अभिलाषा मनमें न आने दो। दान इस भावनासे करो कि धन-ऐश्वर्य या लक्ष्मी सब भगवान्‌की वस्तु है, इसका पराये हितके लिए दान करनेसे सर्वव्यापी भगवान् प्रसन्न होंगे। भगवान्‌की प्रसन्नता बढ़ाना ही अपना परम कर्तव्य है। इस सद्भावके मनमें आते ही वह दान मुझे अर्पित हो जायगा। वह दान मैं ही ग्रहण करूँगा और उसका फल भी मेरे ही लिए होगा।

इसी तरह यदि तप करो—दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिए या धर्मार्थ कष्ट सहन करो तो अपने इस तपको इन्द्र, वरुण और कुबेरका पद पानेके लिए न बेचो। यह भी भगवत्प्रीत्यर्थ अर्पित करो। मेरी प्रसन्नताके लिए मुझे ही दे दो।

पूछोगे : सब कुछ आपको ही अर्पित कर देनेसे क्या लाभ होगा? 'सुनो, उस लाभकी कल्पना भी तुम नहीं कर सकते। एक कर्म अनन्त और अक्षय्य बनकर तुमपर आनन्दकी वर्षा करेगा। पहली बात यह कि कर्मके बन्धनकारक शुभाशुभ फल हैं; उनसे तुम छुट्टी पा जाओगे। तुम संन्यासयोगयुक्तात्मा हो जाओगे। सारे पाप-ताप, काम और कर्मसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे। मुझे अपना कर्म दोगे तो मैं तुमपर अपने आपको निछावर कर दूँगा। तुम्हें इन्द्र, वरुण, कुबेर और ब्रह्माका पद प्राप्त हो जाय, तो भी वह मेरी प्राप्तिकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं होगा। वे सारे फल एक बूँदके समान हैं और मेरी प्राप्ति अनन्त, अगाध, अपार महासागरके समान। वही परम गति है, परम पद है।

अतः तुम्हारा एक ही कर्तव्य है, अपना सारा धर्म-कर्म मुझे दे दो। सर्वस्व समर्पित कर दो। अपने भरण-पोषणकी चिन्ता भी मुझे ही दे दो। अपने आपको भी मेरी शरणमें डाल दो। निकम्मा बनकर न बैठो। मेरेलिए, मेरी प्रसन्नताके लिए सत्कर्म करते रहो। यह तुम्हारा मदर्पण-कर्म तुम्हें और मुझे एक कर देगा।

●

दो क वि त्त

रामदास कहलाता हूँ

व्यथित विभीषण-सा मोहमें घिरा हुआ हूँ,
चाहता हुआ भी प्रभु पास जा न पाता हूँ।
जानता हूँ बन्दिनी विदेहजाकी पीड़ा किन्तु,
दूर बैठ दूसरोंको युक्ति बतलाता हूँ।
दाशरथि दास हो दसाननका भाई बना,
पाप देखता हूँ, पर मौन रह जाता हूँ।
कैसे बतलाऊँ कपिराज क्या दशा है मेरी,
हूँ तो काम-दास राम-दास कहलाता हूँ॥

दान अब दीजिये

मानसमर्मज्ञ श्री रामकिङ्कर उपाध्याय

प्रियतमके पावन सनेहका सन्देश देके,
मिथिलेश-नन्दिनीकी पीड़ा दूर कीजिये।
संशय - अशोक - वाटिकामें पैठ कपिराज!
बागको उजाड़ दुष्ट दर्प दूर कीजिये।
करके प्रहार मार अजय निशाचरोंको,
लोभ-स्वर्ण-दुर्गको क्षणोंमें क्षार कीजिये।
कौशलेश किंकर बिलोकिये कृपाकी ओर,
प्रेम - निर्भराका दिव्य - दान अब दीजिये॥

गीता : एक निर्विवाद निष्काम जीवन-ग्रन्थ

आचार्य विनोबा भावे

★

[आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको देशभर समारोहके साथ गीता-जयन्ती मनायी जायगी। श्रीकृष्णके सन्देशोंमें 'गीता' निर्विवाद मुकुटमणि माना जाता है। दूसरे शब्दोंमें श्रीकृष्ण-सन्देशका वह 'सूत्र-ग्रन्थ' है। यहाँ हम उसी अमर ग्रन्थके कतिपय पहलुओंपर प्रकाश डालनेवाले कुछ चुने विद्वानोंके लेख प्रस्तुत कर रहे हैं।—सम्पादक]

मैं मानता हूँ कि गीता एक निर्विवाद आत्मानुभवका ग्रन्थ है जिसमें सभी विचारोंका सामंजस्य सधा हुआ है। अनेक भाषाओंके अपने व्यापक अध्ययनमें मैंने ऐसा दूसरा ग्रन्थ देखा ही नहीं। बच्चे विसंवाद पैदा करते हैं, वैसे विसंवादकारी बहुत-से ग्रन्थ पड़े हैं। लेकिन माताके लिए विसंवाद रहता ही नहीं, सब सुसंवाद ही होता है। यही गीताकी भूमिका है। एकांगी अनुभव या असमग्र दर्शनसे ही वाद खड़े होते हैं। पूर्ण दृष्टिमें तो सारे वाद क्षीण हो जाते हैं।

वास्तवमें गीताने प्रवृत्ति-निवृत्तिका भेद ही मिटा दिया है। गीतापर सबसे प्राचीन उपलब्ध भाष्य शंकराचार्यका है। उनके पहले ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी कोई टीकाकार हो गये, जिनका उल्लेख शांकरभाष्यमें आता है। कहा जाता है कि शंकरने ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादका खण्डन कर निवृत्ति-मार्गकी स्थापना की। मैं मानता हूँ कि शंकरका विचार और प्रवृत्ति-निवृत्तिका अर्थ समझनेमें हमारी गलती हो रही है। फलत्यागयुक्त निष्काम प्रवृत्तिको शंकराचार्य 'प्रवृत्ति' मानते ही नहीं। हम जानते हैं कि शंकर आमरण क्रियाशील थे।

हाँ, जिसे 'ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद' कहा जाता है, उसे शंकर कभी पसंद नहीं करते। कारण, वे उसमें विचार-दोष देखते हैं। तिलक भी ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी नहीं हैं। वे भी शंकरके समान ही ज्ञानवादी हैं, यह बारीकीसे देखनेपर स्पष्ट हो जाता है। यह अलग बात है कि उन्हें कभी-कभी ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादीके कुछ वचनोंका आधार लेनेका मोह हो गया हो, जैसे कि पक्षविशेष समर्थक वकीलोंको हुआ करता है।

मोक्ष केवल ज्ञानसे ही

मोक्ष केवल ज्ञानसे ही मिलता है, यह शंकरका ज्ञानवाद है। तिलक भी इसीको मानते हैं। इस दृष्टिसे वे शंकरके ही अनुयायी हैं। मोक्षके लिए तो ज्ञान ही पर्याप्त है। लेकिन लोकसंग्रहके लिए कर्मयोगकी आवश्यकता है, इतना ही तिलकजीका कहना है। फिर भी इसे 'ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद' नहीं कहा जा सकता। 'समुच्चय' तो तब बनता है, जब कि एक ही

फलके लिए दो साधनोंका संयोग अनिवार्य माना जाता है। जैसे : आक्सीजन और हाइड्रोजन दोनों मिलनेपर ही पानी बनता है। वैसे ही ज्ञान और कर्म मिलनेपर ही मोक्षसिद्धि मानी जाती, तो वह 'ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद' होता।

ज्ञान-प्राप्तिमें कर्म उपयोगी

ज्ञान-प्राप्तिके लिए साधकावस्थामें कर्मकी उपयोगिता है, इसमें किसीको विवाद नहीं। लेकिन यदि अविद्यासे ही बन्धन है तो मुक्तिके लिए केवल ज्ञान ही समर्थ और पर्याप्त होना चाहिए। बढ़ईको कुर्सी बनानेके लिए ज्ञान और कर्म दोनोंकी जरूरत पड़ती है, केवल ज्ञानसे वह चीज नहीं बन सकती। इसी तरह मुक्ति यदि कोई बनानेकी वस्तु होती, तो उसके लिए केवल ज्ञान ही पर्याप्त न होता। कर्मकी भी आवश्यकता उसमें रहती—यह है शांकर-विचार! जबतक मुक्तिकी व्याख्यामें हम कोई परिवर्तन नहीं कर पाते, तबतक यह विचार विश्व-विजयी रहेगा, फिर चाहे आप उसे प्रवृत्ति कहिये या निवृत्ति! चाहे आपका व्यवहार टिकता हो या गिरता हो।

लोक-संग्रह और कर्म

मुक्तिके लिए ज्ञान और लोक-संग्रहके लिए कर्म, यह तो कोई समुच्चयवाद ही नहीं है। वैसे देह-शुद्धिके लिए स्नान भी जोड़ा जा सकता है, लेकिन उससे ज्ञान-स्नान-समुच्चयवाद नहीं सधता। लोक-संग्रहके लिए कर्म शंकरको भी मान्य है, लेकिन उसे वे 'कर्म' ही नहीं कहते। जिसे करनेवाला स्वयंको 'कर्ता' ही नहीं समझता, वह 'कर्म' शब्दका पात्र नहीं, यह है उनकी कर्मकी परिभाषा। वे लिखते हैं :

लोकसङ्ग्रहार्थं प्रवृत्तस्य यत्प्रवृत्तिरूपं दृश्यते, न तत् कर्म।

अर्थात् लोक-संग्रहके लिए प्रवृत्त ज्ञानीके जीवनमें प्रवृत्तिका जो रूप दीखता है यानी प्रवृत्तिका-सा आभास होता है, वह कर्म ही नहीं, ऐसा वे कहते हैं। एक बाह्यदृष्टिसे बोलता है और ज्ञानीकी क्रियाशीलताको 'कर्म' नाम देता है। दूसरा तत्त्वदृष्टिसे देखता है और उसीको 'अकर्म' संज्ञा देता है। यह तो एक शब्दभेद ही हो जाता है।

ज्ञानीका आचरण हमारे लिए अज्ञेय

हाँ, इतनी बात अवश्य है कि ज्ञानीको कर्म करना चाहिए, ऐसा तिलकजीका आग्रह है तो शंकर इसे ज्ञानीकी निजी प्रेरणापर छोड़ देते हैं। लेकिन इसमें हमें वाद नहीं करना चाहिए। करोड़ोंमें एकआध ज्ञानी ऐसा होता है और उसके आचरणके बारेमें हम अज्ञानी चर्चा करें, यह बेकार है। ऐसी चर्चाका कोई अन्त नहीं। **अनतिप्रश्न्यां वै देवताम् अतिपृच्छसि, मूर्धा ते विपतिष्यति**—जिस देवताके विषयमें अधिक प्रश्न नहीं पूछने नहीं चाहिए, उसके बारेमें प्रश्न कर रहा है तो तेरा सिर टूट पड़ेगा, ऐसा श्रुतिका संकेत है। आत्मज्ञानी ऐसी ही देवता है। इसलिए उसे सहस्रशः प्रणाम करके हम भी साधकोचित निष्काम सेवाकार्यमें लग जायें।

× × ×

निष्कामताका ग्रन्थ

वस्तुतः गीता निष्कामताका पाठ पढ़ाती है। वह निष्कामताका ग्रन्थ है, जीवनका मन्त्र है। समर्थ रामदास कहते हैं : **सकामासी नावडे गीता** अर्थात् कामना रखनेवालेको गीता पसन्द ही नहीं पड़ती। सचमुच ऐसा ही यह अद्भुत ग्रन्थ है। अपना जीवन निष्काम बनाना ही गीताका लक्ष्य है। अर्जुनने पूछा : 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है, कैसे चलता है, कैसे घूमता है ?' इसीको भगवान्ने बताया है। यानी स्थितप्रज्ञ-सा चलने-बोलनेका बोध गीता देती है। यही उसकी प्रवृत्ति हैं। उसी स्थितप्रज्ञ ज्ञानीकी वृत्तिका अनुकरण होना चाहिए, यही गीता बतलाती है। सच्चा ज्ञानी कभी भी एकांगी नहीं होता। वह जीवनके सभी अंगोंका सन्तुलित विचार करता है। उसकी प्रवृत्तिमें साम्य आ जाता है। कभी किसी प्रकारका अतिरेक नहीं पाया जाता। उसका बोलना, बैठना, उठना, लिखना, पढ़ना हर कृति अनुकरणीय हुआ करती है। जो ऐसा सर्वांगपूर्ण ज्ञानी हो, उसीको आदर्श मानता गीताका लक्ष्य है। भगवद्गीता एक जीवन-ग्रन्थ है। वह कोई मात्र शब्दशास्त्र नहीं। इसलिए उसके अनुकूल ही अपना जीवन बनाना चाहिए।

सर्वाङ्ग-सुन्दर मन्दिर

जैसे कोई चित्रकार चित्र बनाता है तो सभी अंग-प्रत्यंगोंमें समता रखता और सर्वाङ्ग-सुन्दर चित्र बनाता है। जहाँ-जहाँ उसे सुन्दरता मिलती, चित्रमें इकट्ठा करता और सबको एक चित्रमें जोड़ देता है, तब वह चित्र सर्वाङ्ग साथ-सुन्दर बनता है। गीतामें भी ऐसा ही हुआ है। उपनिषद्से ज्ञान, योगशास्त्रसे समत्वबुद्धि, भक्तिमार्गसे भक्ति, वेदसे ध्यान, सांख्य-न्यायशास्त्रसे सृष्टिविषयक विज्ञान और स्मृतिकारोंसे आचार भी लिया। अनुभवियोंसे जो अनुभव मिला उसे भी ले लिया। **ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे** · ब्रह्मविद्याकी बुनियादपर गीतामें योग-शास्त्रका मकान खड़ा किया गया है। भक्ति, ज्ञान और कर्मकी दीवारें बनायी गयी और उस मकानके शिखरपर भगवत्-शरणताका कलश चढ़ाया कि 'सब छोड़ अन्तमें मेरी शरण आ जा।' इस तरह यह एक सर्वाङ्ग-सुन्दर मन्दिर खड़ा किया, जिसके आश्रयमें हम सदैव सुखसे रह सकते हैं।

× × × ×

विश्वव्यापक धर्मग्रन्थ

गीता विश्वव्यापक धर्म और विश्वव्यापक विचारका ग्रन्थ है। इसके शब्द अत्यन्त व्यापक हैं। बच्चोंके भी काम आते हैं और बूढ़ोंके भी। इस दुनियाके भी कामके हैं और उस दुनियाके भी। वह संसारमें काम करनेवाले लोगोंके उपयुक्त है और मोक्षपरायण निवृत्त मनुष्यके भी उपयुक्त। यह ग्रन्थ सुखमें मदद पहुँचाता है और दुःखमें भी। प्रतिक्षण राह दिखाता और किसीपर आक्रमण नहीं करता। जिसकी जैसी मनोदशा हो, उसीके अनुरूप उन्नतिकारक बोध उसे इस ग्रन्थसे मिलता है। इसलिए सबको इसका अध्ययन करना चाहिए।

(विभिन्न प्रवचनोंसे संकलित)

गीतामें श्रम और कर्तव्यका महत्त्व

श्री देवधर शर्मा शास्त्री

☆

गीतावक्ता श्रीकृष्णकी वन्दना जगद्गुरुके रूपमें की गयी है : कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्। जगद्गुरु वही हो सकता है, जो जीवनके प्रत्येक क्षेत्र और परिस्थितिमें कर्तव्याकर्तव्य की युक्तियुक्त व्याख्या करते हुए मानवमात्रका मार्गदर्शन करे। यह शक्ति और सामर्थ्य श्रीकृष्णमें पूर्णतः विद्यमान थी। उन्होंने अर्जुनके माध्यमसे सम्पूर्ण जगत्को गीताका शाश्वत सन्देश दिया और इसीलिए वे जगद्गुरुके पदपर प्रतिष्ठित हुए।

श्रीकृष्णका वह उद्बोधन सम्पूर्ण विश्वकी मानव-जातिके लिए प्रकाशस्तम्भ और प्रेरणादायी है, जो उन्होंने कौरव-पाण्डव-सेनाके मध्य युद्धके लिए रथारूढ़ अर्जुनको प्रदान किया। जब अर्जुन दोनों सेनाओंके वीरोंको देखकर मोहग्रस्त और दैन्यभावापन्न हो गये तथा अपने क्षात्रधर्मके विपरीत शस्त्रोंका परित्यागकर युद्धसे मुँह मोड़ चुके, तब श्रीकृष्णने उनको फटकारते हुए कहा : 'नपुंसक मत बनो, अपने हृदयकी दुर्बलता दूर भगाओ; उठो और युद्ध करो। अन्यथा तुम्हारी यह नपुंसकता तुम्हें कहींका नहीं रखेगी, न तो जीवित रहनेपर यश पाओगे और न मरनेपर स्वर्ग।'

इस उद्बोधन द्वारा श्रीकृष्णने मानवमात्रको आलस्यरहित होकर श्रम करने और निष्ठापूर्वक कर्मपरायण बननेकी प्रेरणा प्रदान की तथा मानवीय मनोवृत्तियोंका विश्लेषण करते हुए श्रम एवं कर्मका सात्त्विक स्वरूप स्पष्ट किया।

शास्त्रकारोंने गीताको उपनिषत्-सार माना है। यही कारण है कि संसारमें जितने भी सत्पुरुष अवतरित हुए, सबने गीतापर भाष्य किया और उसमें अपनी-अपनी मान्यताओंका समर्थन करते हुए भी उसके द्वारा प्रतिपादित कर्मयोगको समानरूपसे स्वीकार किया।

जिस प्रकार ईशोनिषद्में कहा गया है कि कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः अर्थात् संसारमें कर्म करते हुए कम-से-कम सौ वर्षतक जीवित रहनेकी कामना करें, उसी प्रकार गीतामें भी इसकी व्याख्या विस्तारसे की गयी है। बताया गया है कि कर्म क्यों और किस प्रकार करना चाहिए, उसका आश्रय क्या होना चाहिए तथा उसे करनेसे कैसा आनन्द एवं सुख प्राप्त होता है?

खिन्न एवं मनस्तप्त अर्जुनको कर्मयोगका उपदेश देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने यही कहा कि 'यह संसार कर्मके बन्धनोंसे बँधा हुआ है। उसके छुटकारा नहीं मिल सकता।' आगे चलकर उन्होंने कर्मके प्रकार, स्वरूप, विधान और व्यवस्था आदि की व्याख्या की जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह बतायी कि 'कर्मपर मनुष्यमात्रका अधिकार है। अतः मनुष्य अपने अधिकारका प्रयोग करें, कर्म करते रहें और अकर्मा बनकर बैठे न रहें। फिर भी कर्मके साथ न तो आसक्ति हो और न उसके फलकी आकांक्षा, आशा या कामना करें।' क्योंकि कर्मका फल देनेवाला कोई दूसरा ही है। भगवान् श्रीकृष्णने अपने कथनको स्पष्ट करते हुए कहा कि 'जिस प्रकार राजा जनक आदि विदेह (शरीरके सब धर्मोंसे परे) होते हुए भी राज्य-संचालनके साथ-ही-साथ निरन्तर दैनिक एवं व्यावहारिक कार्य करते रहे, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य आसक्ति छोड़कर अपना कर्तव्य कर्म कर सकता है।' इसी प्रसंगमें श्रीकृष्णने यह उपदेश भी दिया कि 'मनुष्यको लोकसंग्रह अर्थात् लोक-कल्याण, लोकसेवा, लोकहित और लोकोपकार आदिके कार्योंमें निरन्तर संलग्न तो रहना चाहिए, पर उससे यश या धन प्राप्त करनेकी कामना नहीं करनी चाहिए। फलाकांक्षाका परित्याग करनेपर ही मनुष्यको परमानन्दकी प्राप्ति होती है।'

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्यके लिए इतनी निर्लिप्तता सम्भव है? क्या यह स्वाभाविक है कि वह प्रतिफलकी आकांक्षा छोड़ कर्मपरायण बना रहे, क्योंकि जबतक मनुष्यके भीतर मनका अस्तित्व है तबतक उसकी आकांक्षाओंसे निवृत्ति संभव ही नहीं। इसीलिए अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णसे पूछना पड़ा :

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् मन बहुत ही चञ्चल होता है। उसे नियन्त्रित करना उतना ही कठिन है, जितना वायुको बाँधना। अर्जुनका तात्पर्य यही था कि कार्य तो करते रहा जा सकता है, किन्तु यह असम्भव है कि मनमें कार्यके फलकी कामना न रहे। इसका समाधान करते हुए श्रीकृष्णने उत्तर दिया :

> असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
> अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

अर्जुन, तुम ठीक कहते हो कि मन बड़ा चञ्चल है और उसे काबूमें रखना कठिन है। फिर भी अभ्यास और वैराग्यसे उसे वशमें किया जा सकता है। यहाँ 'अभ्यास'का अर्थ अपेक्षित दिशाकी ओर बार-बार मनको लगाना है तो 'वैराग्य'का तात्पर्य है प्रतिकूल पदार्थसे बार-बार मनको हटाना।

अर्जुनको सबसे बड़ा अज्ञान यही था कि मानो वे ही अपने कर्मोंके कर्ता-धर्ता और अधिष्ठाता हैं। अतः उनके फलकी प्राप्ति और भोगका अधिकार भी उन्हींको है। इसका निराकरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि अपनेको कर्ता-भोक्ता माननेके कारण ही

इस संसारमें इतना दुःख और कष्ट व्याप्त है। इसलिए तुम कर्म तो करो, किन्तु उसका फल मुझे समर्पित कर दो :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

तुम जो कुछ भी करो, जो कुछ भी खाओ, जो कुछ भी यज्ञ करो, जो कुछ भी दान करो अथवा जो कुछ भी तपस्या आदि करो, वह सब-का-सब मुझे अर्पण कर दो। जब तुम अपना समस्त क्रिया-कलाप मुझे समर्पित कर दोगे तो उसका पाप-पुण्य भोगनेवाला मैं बन जाऊँगा।

अर्जुनके मनमें यह उलझन भी घर किये बैठी थी कि 'यदि अपने बड़े-बूढ़ों और सम्बन्धियोंको मारकर उनके रक्तसे सना सारा राज्य मुझे मिल भी गया तो उनकी हत्याका कलंक लगेगा और मैं इस संसारमें धिक्कारके योग्य समझा जाऊँगा।' इसीलिए श्रीकृष्णने कहा : **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!**—'तुम केवल निमित्त बनकर अपने कर्तव्यका पालन करो, उसके परिणामका विचार छोड़ दो और शुभाशुभका भार मुझपर डाल दो, मैं उसे वहन कर लूँगा।'

इसके पश्चात् जब अर्जुनके मस्तिष्कमें प्रश्न उठा कि कौन-सा कर्म करने योग्य है और कौन-सा नहीं, तो इसका समाधान करते हुए श्रीकृष्णने कर्तव्यके दो आधार बताये : एक तो सत्पुरुषोंका आचरण और दूसरे शास्त्रका आदेश। अर्थात् समाजके सत्पुरुष जैसा आचरण कर गये हैं, उसका अनुकरण करना चाहिए और बड़े-बड़े अनुभवी ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रणीत शास्त्र जैसी आज्ञा करते हैं, उसका पालन करना चाहिए। जो लोग सत्पुरुषों द्वारा दिखाया मार्ग छोड़कर शास्त्राज्ञाके विरुद्ध कार्य करते हैं, उन्हें न तो सफलता मिलती है और न सुख।

इतना ही नहीं, श्रीकृष्णने यहाँतक कहा कि **योगः कर्मसु कौशलम्** कर्ममें कुशलता प्राप्त कर लेना ही योग अर्थात् आत्म-साक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्तिका साधन है। तात्पर्य यह कि परिश्रमपूर्वक मन लगाकर तन्मयताके साथ कर्म करना ही मनुष्यके लोक-परलोकका कल्याणकारी कर्तव्य है।

अतः मनुष्य कहीं भी, किसी भी परिस्थितिमें हो, यदि वह वास्तवमें दुःखोंसे छुटकारा पाना चाहता है तो जगद्गुरु श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित गीताके कर्मयोगका अध्ययन-मनन करके उसे जीवनमें उतारे। गीतोक्त कर्मोपदेशके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यको श्रम एवं निष्ठाके साथ सम्पादित करनेपर ही व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्रमें सच्ची सुख-शान्ति एवं सौमनस्यकी सृष्टि हो सकती है।

(आकाशवाणी, मथुराके सौजन्यसे)

गीतामें 'च'कारके चमत्कार

श्री प्रभुदत्त शास्त्री, दिल्ली

★

श्रीमद्भगवद्गीता दो भगवानों द्वारा गायी गयी है ('भगवद्भ्यां गीता भगवद्-गीता')। इनमें एक भगवान् तो श्रीकृष्ण हैं और दूसरे भगवान् हैं कृष्णद्वैपायन या व्यासदेव। उन्हें भी 'भगवान् बादरायणः' कहकर अन्यत्र सम्बुद्ध किया गया है। एक भगवान्ने उसे समरांगणमें अर्जुनको गा सुनाया तो दूसरे भगवान्ने उसका अनुवाद कर अपनी शतसाहस्री संहिता महाभारतमें ग्रथित कर लिया। यही कारण है कि गीता-पाठके आरम्भमें उसके वक्ताओंके ध्यानमें जहाँ हमें 'कैवर्तकः केशवः' वचन मिलता है, वहीं 'पाराशर्यवचःसरोज-ममलम्' भी हम पढ़ते हैं। इस तरह दो-दो भगवानों द्वारा गाये गये इस ग्रन्थ-भूषणकी एक-एक पद-मुक्ता पानीदार और सार्थक है। उसके एक-एक अक्षरमें रहस्य भरा हुआ है, जिसका अन्त पाया नहीं जा सकता। इसपर अबतक कितनी ही टीकाएँ हुईं, पर प्रत्येकने कुछ न कुछ पद-रत्नोंको परखना छोड़ ही दिया। हमारा इनमें यहाँ विशेष लक्ष्य 'च'कार पर जाता है, जिसका चमत्कार गीतामें भरा पड़ा है। आधे-आधे श्लोकमें तीन-तीन 'च'कारोंका प्रयोग है। जैसे : **स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः**। आज अपने पाठकोंका ध्यान उसी ओर खींचना चाहते हैं, जो उन्हें निश्चय ही गुदगुदी किये बिना नहीं रहेगा।

गीताके टीकाकारोंने इसी श्लोक ('स संन्यासी च योगी च…') के चमत्कारी 'च'कारोंके अर्थ 'और-और-और'के सिवा कुछ नहीं बताये। किन्तु ये अपने भीतर बड़े ही गहरे और उपयोगी अर्थ भरे हुए हैं। देखिये : 'च'का अर्थ सूर्य भी होता है, जैसा कि 'एकाक्षरी-कोष'में कहा गया है—'च सूर्ये च प्रचण्डे च।' इसके अनुसार इस श्लोकका अर्थ होगा : 'वह संन्यासी है और कैसा संन्यासी ? 'चयोगी'—सूर्यसे मेल करनेवाला। अर्थात् सूर्यके माध्यमसे ब्रह्ममें लीन होनेवाला, जैसा कि स्मृतियोंमें कहा है। 'द्वावेतौ ब्रह्म विन्देते सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥' यानी योग लगानेवाला संन्यासी और युद्धमें सामने खड़े होकर मरनेवाला वीर, दोनों सूर्यमण्डल भेदकर ब्रह्मको प्राप्त करते हैं। दो व्यक्ति, दो धर्म या दो क्रियाओंके निर्देशमें 'च' इसलिए जोड़ा जाता है कि दोनों वहाँ प्रदर्शित एक क्रियामें जुड़ते रहें। यहाँ कहते हैं, 'वह केवल संन्यासी ही नहीं, चयोगकी शक्ति पानेवाला भी है।

गीतामें अनेक स्थानों पर इस 'च' ने बड़े विलक्षण अर्थ प्रकाशित किये है। जैसे :

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।

'भूत प्राणी तेरी अव्यय अकीर्ति भी करेंगे', इतनी-सी बात तो "अकीर्तिमपि भूतानि" कहनेसे भी निकल आती। फिर 'च' को 'अपि' से मिलाकर भगवान्‌ने क्यों कहा? कहना होगा, भगवान्‌ने सोचा कि यह भूतमात्र द्वारा की हुई अकीर्तिसे नहीं डरेगा। समझ लेगा कि यों ही हाथीके पीछे कुत्ते भूंकते ही रहते हैं। फिर 'भूत' तो मक्खी-मच्छर हैं, वे क्या अकीर्ति करेंगे? अतः 'भूत' को कोई विशेषण चाहिए। वही विशेषण बतानेके लिए 'चापि' कहा। 'चापि' चापधारी भूत, अर्थात् तलवारके धनी तेरी अकीर्ति करेंगे। यही नहीं, एक अन्य भी बहुत सुन्दर अर्थ चकार प्रकट करता है। "चप् सान्त्वने" एक धातु है, जिससे सान्त्वना देनेके अर्थमें 'चापि' शब्द सिद्ध होता है। मानवसे गलती हो ही जाया करती है। अच्छे पुरुष उसे देखकर बिना कहे ही उसका समाधान कर दिया करते हैं, किन्तु दुर्जन हंसते हैं:

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

भगवान् कहते हैं: 'किन्तु अर्जुन तू, तो इतनी बड़ी गलती कर रहा है कि वे 'चापी' भी तेरी अकीर्ति ही करेंगे, तेरी ओरसे उत्तर न देंगे।'

इसी तरह एक अन्य स्थल देखें।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।

टीकाकार 'उपपन्न'का तो 'प्राप्त' अर्थ कर लेते हैं, किन्तु 'च'का कोई अर्थ नहीं करते। वस्तुतः 'च' ही रहस्यमें भरा है। 'चुपी मन्दायां गतौ' धातुसे 'चोप' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है मन्दगति। 'अर्जुन! युद्धकी ओर मन्दगतिमें पड़े तेरेलिए स्वर्ग-द्वार खुला है।'

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् यहां 'च'का अर्थ प्रचण्ड है। प्रचण्ड विराट्की प्रार्थना की जा रही है कि 'हे प्रचण्ड! आपको सिद्धसंघ कैसे न झुकें, क्योंकि आप तो गरीयान् हैं, ब्रह्माके भी आदिकर्ता हैं।

इसी प्रकार **युद्धे चाप्यपलायनम्** (युद्धमें चापियोंसे न भागना) का भी गूढ अर्थ है: 'आप्याः—प्रापणीयाः ग्रहणीयाः, ये शत्रवः, तेभ्यः—तत्कृते, पलायनं धावनमुचितमेव।' अर्थात् जिन शत्रुओंको पकड़ना है उनके लिए तो भागना ही पड़ेगा। स्वयं श्रीकृष्ण कालयवनसे लड़ते-लड़ते मथुरासे भाग गये थे, जिससे उनका एक नाम 'रणछोड़जी' भी प्रसिद्ध हो गया।

भगवती चण्डीके नवार्णमन्त्रमें 'विच्चे' (विद्+च+इ) पद आता है। इस पदके एक भाग विद्का अर्थ है ज्ञान, 'च'का अर्थ है सत् और 'ई'का अर्थ है आनन्द। अर्थात् भगवती सच्चिदानन्दरूपिणी है। इसीके अनुसार गीताके भी **सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः** यहाँ 'चाहम्'का अर्थ 'सदहम्' है।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः यहां सात्यकिका विशेषण है, 'चाप्य' ('धनुषसे राजित')। कारण वह 'अ-पराजित' है।

इसी प्रकार गीतामें 'चैव' शब्द भी बार-बार आया है। पहले ही श्लोकमें **मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय** यहाँ 'च' और 'एव' पादपूरक न होकर विशेषार्थं हैं। देखिये : 'चीवृ भाषा-संवरणयोः' धातुसे कृदन्तमें 'चीव' शब्द बनता है जिसका अर्थ है, वक्ता या वाग्मी। वही वक्ता जहाँ बहुत ही अच्छा हो, इस अर्थमें तद्धित प्रत्यय होकर 'चैव' (चीव एव चैवः) बना है, जैसे कि 'निवेद्यमेव नैवेद्यम्' बनता है। तात्पर्य यह कि संजयको एक अच्छा वक्ता मानकर यह प्रशंसार्थक संबोधन ('हे सही-सही कहनेवाले संजय') दिया गया है। कारण, कुशल वक्ता होनेसे वह किसी कारण विस्तारसे वर्णनीयको संक्षिप्त न कर दे या संक्षेप्यका विस्तार न कर दे।

यह 'चैव' संबोधन केवल संजयके लिए ही नहीं आया है। किन्तु श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी परस्पर इसका प्रयोग किया है। जैसे : **स्वयं चैव ! ब्रवीषि मे** यह अर्जुनका कृष्णको 'चैव' सम्बोधन है। **अमृतं चैव मृत्युश्च** यहां कृष्णका अर्जुनको 'चैव' सम्बोधन है।

इसी तरह **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत !** यहाँ भगवान्‌ने अपनेको क्षेत्र जाननेवाला ही बताया हो, ऐसी बात नहीं। कारण, क्षेत्र जाननेवाला तो पटवारी भी होता है और खेतका मालिक भी। माना कि यहाँ और ही प्रकारका क्षेत्र है, जिसके लिए उन्होंने स्वयं कहा है : **तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद् विकारि यतश्च यत्।** फिर भी जाननेमात्रसे अर्जुनका या हमारा क्या भला होना है ? हमारा भला तो उसकी रक्षासे ही होगा। अतः कोई रक्षासूचक विशेषण चाहिए। वह विशेषण 'चापि' है। भगवान् कहते हैं : 'मैं चापधारी क्षेत्रज्ञ हूँ' अर्थात् कोरा ज्ञाता नहीं, रक्षक भी।

इसी प्रकार **योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्** का 'चाद्यम्' शब्द भी अत्युत्तम अर्थ-गर्भित है। 'चते चदे याचने'के अनुसार 'चदे' धातुसे यह 'चाद्यम्' पद 'पाठ्यम्, पाच्यम्'की तरह कृदन्तमें बनता है, जिसका अर्थ होता है—अर्थात् योगी उस परम स्थानको प्राप्त होता है जो सभीके लिए प्रार्थनीय, परब्रह्म परमात्मरूप है। यही 'चाद्य' शब्द गीतामें एक अन्य स्थानपर भी आया है : **तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।** यहाँ भी 'सर्वैर्याचनीयं पुरुषं प्रपद्ये' यह अर्थ मानना चाहिए।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च यहाँ भी 'चरमन्ति' पद महत्त्व-पूर्ण प्रयुक्त है; क्योंकि जो लोग 'मच्चित्त' हुए, 'मद्गतप्राण' और 'परस्परं बोधयन्त' हुए, उन्हें इन क्रियाओंका फल तो मिलना ही चाहिए। वही फल प्रस्तुत 'चरमन्ति' बताता है। वे पुरुष 'चरमन्ति' चरम पुरुष-से हैं अर्थात् अन्तिम पुरुष, जीवन्मुक्त हैं : 'चरमे इवाचरन्तीति चरमन्ति।'

इस तरहके संस्कृत पदोंको 'नामधातु' पद कहा जाता है। नामधातुका अर्थ है धातुओंसे जो शब्द बने हों। किन्तु जहाँ शब्दोंसे भी धातु बनायी जाती हो, उन पदोंसे यह स्मरण कराया

गीता धर्म-शास्त्र है

महामण्डलेश्वर श्री गङ्गेश्वरानन्दजी उदासीन

गीता धर्म-शास्त्र है। इसकी पुष्टि इसीसे हो जाती है कि उसका आरम्भ 'धर्म' शब्दसे होता है और अन्तमें भगवान् 'मम' शब्दका प्रयोग करते हैं। जिसका तात्पर्य है—'धर्मो मम।' अर्थात् गीतामें आरम्भसे समाप्तितक जो भी कुछ प्रभुने अर्जुनसे अपना संवाद कहा, वह स्वाभिप्रेत धर्मका ही समन्वय है। उपक्रम-उपसंहारके इन दो पदोंसे भगवान् यही सूचित करते हैं कि 'अर्जुन' आरम्भसे अन्ततक हमारे संवादमें जो भी कुछ तुमने सुना, मेरा अभिप्रेत धर्म ही है।

गीताके धर्मका अर्थ व्यापक रूपसे कर्म, भक्ति और ज्ञानका समन्वय है। वैदिक वाङ्मयमें तीनों अर्थोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग बहुधा पाया जाता है। धर्मेण पापमपनुदति (तै० आ० १०.६३) यहाँ 'धर्म' शब्द 'वेदविहित कर्म'के अर्थमें प्रयुक्त है। इति भागवतान् धर्मान् (भाग० ११.१.३३) यहाँ 'धर्म' शब्द श्रवण-कीर्तनादि 'नवधा भक्ति' अर्थमें प्रयुक्त है। नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः (कठोप० १.२१) में 'धर्म' शब्दका प्रयोग 'ज्ञान' अर्थमें हुआ है। अतः यह निर्विवाद है कि गीताका 'धर्म'शब्द कर्म, भक्ति और ज्ञानके समन्वयका बोधक है।

जाता है कि जैसे हमने अपने नाम, पहलेके रूप छोड़ दिये, वैसे ही ये भगवद्भक्त भी अपना नाम-रूप छोड़ देते हैं। ऐसे पुरुषोंका बोध करानेके लिए यह 'चरमन्ति' कहा गया है।

आचार्योंने इन चकारोंको अनेकार्थक माना है, व्याकरणमें भी इसके द्रव्यार्थक और अद्रव्यार्थक दो भेद बताये हैं। 'और' 'या' अर्थवाले 'च'का बोलना तो आवश्यक भी नहीं माना गया है। महाभाष्यमें लिखा है कि 'विनापि चकारार्थो गम्यते'—'गौरश्वः पुरुषो हस्तीति'। 'और' 'और'को संस्कृतमें समुच्चय कहते हैं। इस समुच्चयार्थक चकारके विना भी यह बोलना क्या बुरा है ? गाय, घोड़ा, आदमी, हाथी इनको 'गाय' और घोड़ा और आदमी और हाथी बोलना कौन-सा ठीक है ? अतः भगवद्गीताके चकार केवल 'और-और' अर्थवाले निपात या अव्यय ही नहीं, विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हैं।

यह तो एक 'चकारका चमत्कार दिखलाया। स्थाली-पुलाक'न्यायसे इसी तरह गीताके एक-एक पदका चमत्कारी अर्थ लगाया जा सकता है।

भगवान्‌का 'बुद्धियोग' भक्तियोग ही

एक 'गीता-प्रेमी'

आनन्दकन्द सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनको लक्ष्य बनाकर प्राणीमात्रके उद्धारकी दृष्टिसे गीताशास्त्रका उपदेश दिया। यह अवसर तब आया, जब न केवल अर्जुन या पाण्डवोंके लिए, सम्पूर्ण राष्ट्रके लिए विषम परिस्थिति उपस्थित हो गयी थी। पाण्डव मात्र अशन-वसनके लिए केवल पांच गाँव चाहते थे, पर कौरवराजका कहना था : 'सूचीके अग्रभागके बराबर भी भूमि बिना युद्धके न दूँगा।' इस कारण पाण्डवोंको युद्धकी तैयारी करनी पड़ी। कौरव तो मन, वचन, कायासे पहलेसे ही युद्धके लिए सन्नद्ध थे।

युद्धके मैदानमें दोनों पक्षोंकी सेनाएँ एवं सेनापति, एकसे एक महारणधीर योद्धा जुटे थे। शस्त्र-सम्पात होने ही जा रहा था कि अकस्मात् अर्जुनको मोह हो गया : 'अपने इन स्वजनों, कुटुम्बियोंको मारकर मैं कभी सुखी नहीं हो सकता, अतः युद्ध कतई नहीं लड़ूँगा।'

इस अवस्थामें भगवान् कृष्ण उसके सारथि बनकर भी क्या कर सकते थे? क्योंकि कोई भी फल पानेके लिए कुछ तो करना ही पड़ता है। पिलानेसे रोग मिटा देनेवाला घी गायोंके शरीरमें भरा रहता है, फिर भी वह उसके अंगोंको पुष्ट करनेमें समर्थ नहीं होता। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाला परमेश्वर भी बिना कुछ कर्म किये हित-साधनसे असमर्थ है :

> गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम्।
> तदेव कर्म-रचितं पुनर्भवति भेषजम्॥
> एवं सर्वशरीरस्थ - सर्पिवत् परमेश्वरः।
> विना चोपासनां देवो न करोति हितं नृणाम्॥

शास्त्रोंमें कर्मके लिए दो ही मार्ग बतलाये हैं : १. प्रवृत्तिमें लगे जीवोंके लिए कर्मयोग तो २. निवृत्तिपथानुयायियोंके लिए ज्ञानयोग। युद्धके मैदानमें एकत्र, प्रवृत्ति-प्रधान मनुष्योंके लिए निवृत्तिका कोई प्रश्न ही नहीं। अतः यहाँ ज्ञानयोगके उपदेशका अवकाश ही कहाँ? अब रहा कर्मयोग! लेकिन कर्मसे कभी सद्यः फल नहीं मिलता—इधर कर्म किया कि उधर तत्काल फल प्राप्त हो गया, ऐसा नहीं है। कर्म करनेपर भी कालान्तरमें ही फल मिलता है।

तब क्या किया जाय ? भगवान् स्वयं कहते हैं : 'अर्जुन, मैं तुम्हें वह बुद्धियोग दे रहा हूँ, जिससे तुम सङ्कटोंको पार कर जाओगे।'

भगवान्‌का वह बुद्धियोग है :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

अर्थात् मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार मत्परायण होकर अपने मनको मुझमें लगा दोगे तो निश्चय ही मुझे पाओगे। क्योंकि :

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

'अर्जुन, तुमने मुझे जिस तरह देख लिया उस तरह मुझको वेद, तप, दान एवं यज्ञों द्वारा ही नहीं देख सकते। मात्र अनन्यभक्तिसे मुझे देख सकते हो।' क्योंकि :

न तपोभिर्न वेदैश्च नाचारैर्न च विद्यया।
वशोऽस्मि केवलं प्रेम्णा प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥

'न तो मैं तपसे, न वैदिक क्रियाओंसे, न आचारोंसे और न विद्यासे वशमें होता हूँ। वश होता हूँ केवल प्रेमसे। इसमें ज्वलन्त प्रमाण गोपिकाएँ ही हैं। इसलिए शुभ एवं अशुभ सभीको छोड़ केवल मेरी शरण आओ, मेरी भक्ति करो।' विचार करनेपर स्पष्ट होता है कि भगवान्‌का यह बुद्धियोग मात्र भक्तियोग है।

इस प्रकार गीताका प्रतिपाद्य भक्तियोग ही है। वही उस महाघोर कल्मषका सद्यो-नाशकर उपाय है और उसीका उपदेश अवसरोचित एवं समीचीन है। भगवान्‌ने पुराने जमाने दो निष्ठाएँ—ज्ञानयोग और कर्मयोग—बतला दी थीं। पर यह भक्तियोग—यह तीसरा उपाय भक्तोंको ऐसे ही अवसरपर अनुगृहीत करनेके लिए ही बतलाया गया। क्योंकि अर्जुनको ऐसे ही कश्मलने घेर लिया था, जो अनार्यजुष्ट, अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर होता है। उसका नाशक उपाय मात्र भक्ति ही है। महाभाग विदुरजी उद्धवसे और उद्धव अक्रूरसे कहते हैं।

इदं कल्मषमत्युग्रं नरकार्तिप्रदं नृणाम्।
प्रयाति विलयं सद्यः सकृत्केशवसंस्मृतेः॥

इस अतिघोर कल्मषका, जो मनुष्योंको नारकीय पीड़ा देनेवाला है, भगवान्‌के एक बारके ही नामस्मरणसे तत्काल विलय हो जाता है।

साधारण जीवोंके लिए तो यह भक्तियोग अव्यर्थ ओषधि है, देवोंके देव महादेव भी इसीको ग्रहण किये हुए हैं। देखिये :

शंकरसे सुर जाहि भजैं चतुरानन ध्यानन धर्म बढ़ावैं।
नैकु हियेमें सुआवत ही रसखान महाजड़ धीर कहावैं॥
जापर सुन्दर देववधू तिहि बारत प्रान न वार लगावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछियाभरि छाछ पै नाच नचावैं॥

भगवान्‌का सिद्धान्त और प्राण भी यही भक्तियोग है जो 'सूर' के शब्दोंमें सुनिये :

हम भक्तनके भक्त हमारे!
सुनु अर्जुन परतिज्ञा मोरी यह व्रत टरत न टारे॥
भक्तन काज लाज हिय धरिकै पाइ पयादे धाऊं।
जहँ-जहँ भीर परै भक्तनपै तहँ-तहँ जाइ छुड़ाऊं॥
जो भक्तनसों बैर करत है सो निज वैरी मेरौ।
देखि विचार भक्तहित कारन हांकत हौं रथ तेरौ॥
जीतें जीत भक्त अपनेकी हारै हार विचारौ।
'सूरदास' जो भक्त-विरोधी चक्र-सुदर्शन जारौं॥

इसीको गीतामें स्वयं भगवान्‌ने इन शब्दोंमें कहा है :

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

'जो भक्त मुझमें नित्य अभियोगसे लगे हुए हैं, उनके योग-क्षेमका वहन मैं करता हूँ। उनके लिए अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति (योग) और प्राप्त वस्तुका रक्षण (क्षेम) करता हूँ। भक्त प्रह्लादसे वे कहते हैं :

सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तानां स्नेहरज्जुभिः।
अजितोऽपि जितोऽहं तैः स्ववशोऽपि वशीकृतः॥

'मुक्त होता हुआ भी मैं भक्तोंकी प्रेमरज्जुसे बँधा हूँ। अवश होते हुए भी उनके वश हूँ। मुझ अजेयको भी भक्तोंने जीत लिया है।

इतना ही नहीं, भगवान् अपने भक्तोंकी प्रतिज्ञाके सामने अपनी प्रतिज्ञा भी भंग कर देते हैं। महाभारतका युद्ध प्रारम्भ होनेके पहले ही भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की थी—'मैं युद्धमें शस्त्र नहीं उठाऊँगा।' पर जब भगवान्‌के भक्त, बूढ़े भीष्मपितामहने भगवान्‌के सम्मुख यह निम्नांकित प्रतिज्ञा की :

आज जौ हरिहिं न शस्त्र गहाऊं!
तौ लाजौं गंगाजननीको सान्तनु-सुत न कहाऊं॥
स्यन्दन खण्डि महारथ खंडौ कपिध्वज सहित गिराऊं।
इती न करौ शपथ मोंहि हरिकी क्षत्रिय गतिहिं न पाऊं॥
पाण्डव दल सम्मुख है धाऊं सरिता रुधिर बहाऊं।
सूरदास रनभूमि विजय विनु जियत न पीठ दिखाऊं॥

—तो उस प्रतिज्ञाको सुनकर भगवान्ने सोचा कि 'मेरी प्रतिज्ञा भले ही भंग हो जाय, पर भक्तकी प्रतिज्ञाको भग्न नहीं होने दूँगा।' फिर तो सभी जानते हैं कि भगवान्ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर किस प्रकार शस्त्र ग्रहण किया था।

भगवान्को भक्ति ही प्रिय है; कुल, शील, आचरण, रूप, विद्या और वय कुछ भी नहीं। क्योंकि—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का,
कुब्जायाः किमु ह्यरूपमभवत् किं तत्सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं नहि गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

व्याधका कैसा आचरण था? ध्रुवकी क्या अवस्था थी? गजेन्द्रने कौन-सी विद्या पढ़ी? कुब्जा कितनी सुन्दरी थी? सुदामाके पास कौन-सा खजाना था? विदुर कितने कुलीन थे और यादवपति उग्रसेनने क्या पौरुष दिखाया? लेकिन भगवान्ने उन सभीको अपना लिया। वस्तुतः श्रीकृष्ण किसी गुण-विशेषसे प्रसन्न नहीं होते। माधवको तो भक्ति ही प्यारी है। भक्त-समाजमें सुप्रसिद्ध ही है : **हरिको भजै सो हरिको होई।**

मीराने भक्तिमें सर्वस्वार्पण कर दिया : **मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।** भक्तिसे ही भगवान् मीराके वशमें हो गये। मार्कण्डेय, अम्बरीष, व्यास, विभीषण, प्रह्लाद, ध्रुव, भीष्म, नारद आदिकी भक्तिसे ही भगवान् वशीभूत हुए।

गोपियोंने तो भगवान्के प्रति अनन्य प्रेम-भक्ति करके उनका मन ही छीन लिया। भगवान् श्रीमुखसे इसकी साक्ष्य देते हैं :

न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परंतप।
न च रुद्रादयो देवा यथा गोप्यो विदन्ति माम्॥

भक्त्या मय्यनुरक्ताश्च कति सन्ति न भूतले।
किन्तु गोपीजनः प्राणादधिकस्तु प्रियो मम॥

गोपियोंका उत्कट प्रेम और भक्ति देखकर उद्धवजी भी मुग्ध हो उठे और बोल पड़े :

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्द-पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

काश! वृन्दावनमें इन गोपियोंके चरणोंकी धूलिको सेवन करनेवाले गुल्म, लता एवं औषधियोंमें-से मैं कुछ भी बन जाऊँ, जो गोपियाँ दुस्त्यज अपने पति-पुत्रादि और आर्य-पथको भी त्यागकर श्रुतियोंसे भी विमृग्य मुकुन्द-पदवीका सेवन करती हैं।

भगवान्‌ने अपने गोपालरूपको ही वेदोंसे गोपित माना है। पद्मपुराणमें उल्लेख है कि एकबार व्यासजीने भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की :

त्वामहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां मधुसूदन।
यत्तदात्थ परं ब्रह्म जगद्योनिं जगत्पतिम्।
वदन्ति वेदशिरसश्चाक्षुषं नाथ मेऽस्तु तत्॥

'भगवन्, मैं इन चर्मचक्षुओंसे आपके उस निज रूपका दर्शन करना चाहता हूँ जो वेदोंसे गोपित है।' भगवान्‌ने उत्तर दिया :

पश्य त्वं दर्शयिष्यामि स्वरूपं वेदगोपितम्।

'यद्यपि हमारी उस प्रेमरतिके दर्शनके अधिकारी व्रजगोपियाँ और गोप ही हैं, फिर भी मैं आपको उसका दर्शन कराता हूँ।' फिर उन्होंने व्यासजीको अपने उस गोप्य रूपका इस प्रकार दर्शन कराया :

गोपकन्यावृतं गोपं हसन्तं गोपबालकम्।
कदम्बमूलमासीनं पीतवाससमुत्तमम्॥

'कदम्ब पेड़के नीचे भगवान् हँसते हुए गोपबालकों और बालिकाओंके साथ क्रीड़ामें मग्न हैं।'

इस तरह प्रेमभक्तिका महत्त्व वर्णनातीत है। प्रेमभक्तिमें निमग्न मन फिर निकलकर भाग नहीं सकता। कर्मयोगमें निकलकर भागनेकी—बीचमें ही सिद्धियाँ पाकर डगमगा जानेकी स्थिति बनी रहती है। ज्ञानयोग तो तलवारकी धार चाटनेकी तरह विषम एवं दुष्कर है। इसीलिए भगवान्‌ने भक्तिको ही अधिक महत्त्व दिया है :

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, अतः हे अर्जुन तुम योगी हो जाओ। किन्तु योगियोंमें भी वह योगी अत्यन्त युक्त है जो श्रद्धाके साथ मुझमें अन्तरात्माको लगाकर मेरी भक्ति करता है।

इस प्रकार भगवान्‌ने स्वयं गीताके रहस्यको प्रकट किया है कि कर्मयोग एवं ज्ञानयोग दोनों जहाँ काम नहीं आते, वहीं भक्तियोग काम करता है। अतः अति-उपादेय, श्रेष्ठतम साधन भक्तियोग गीताका प्रतिपाद्य 'बुद्धियोग' है, जिसे भगवान्‌ने अर्जुनको कृपाविष्ट हो प्रदान किया।

●

गीतोक्त अमृतत्वकी साधना

डॉ० जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल, आगरा

★

मृत्योर्मा अमृतं गमय मृत्युसे मुझे अमृतकी ओर ले चलो। वेद-उपनिषद्की यह वाणी मानव-जीवनका चरम साध्य है। हम नित्य ही मृत्युसे अमृतकी ओर अग्रसर होना चाहते हैं। किन्तु यह साधना तो अनेक जन्मोंसे चल रही है। पता नहीं, कब पूर्ण होगी? गीतामें भगवान्ने कहा है: **अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।** अर्थात् 'अनेक जन्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त और अतिप्रयत्नसे अभ्यास करनेवाला योगी-सम्पूर्ण पापोंसे भलीभाँति शुद्ध होकर उस साधनके फलस्वरूप परमगति प्राप्त करता है।' यह परमगतिकी प्राप्ति अनेक जन्मोंमें सिद्ध होती है।

अर्जुनने जब भगवान्से पूछा कि 'योगभ्रष्ट'का तो यह लोक भी बिगड़ा और परलोक भी, तो उसपर भगवान् कहते हैं: 'किन्तु वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर उनमें वर्षोंतक वास करके शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घर जन्म लेता है।' इस प्रकार **शुचीनां श्रीमतां गेहे** भी वह साधना करनेकी परिस्थितियाँ पाता है। (६.४ १)'अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है। निःसन्देह इस प्रकारका जन्म संसारमें अतिदुर्लभ है।'(६.४२)

वृन्दावनमें भगवान् श्री गोपालजी और श्री राधारानीकी सेवामें जीवन बितानेवाले वयोवृद्ध पं० हरिप्रसाद शर्मा ज्योतिषी प्रायः इन श्लोकोंको सुनाकर सत्पथ एवं साधनापर दृढ़ रहनेकी प्रेरणा दिया करते हैं। ऐसा संयोग भी प्राप्त होता है कि योगभ्रष्ट पूर्वजन्मके समत्व-बुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास प्राप्त करके भगवत्प्राप्तिके निमित्त यत्न करता है। पूर्वजन्मके अभ्याससे वह निरन्तर भगवान्की ओर आकृष्ट होता है और इस प्रकार मृत्युसे अमृतकी ओर जानेका क्रम निरन्तर चलता रहता है। यह मृत्युसे अमृतत्वकी साधना क्या है? अन्तकालमें भगवत्-स्मरण:

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ (८.५)

'अन्तकालमें वासुदेव भगवान्को स्मरण करते हुए शरीर त्यागनेवाला साक्षात् उन्हींके स्वरूपको प्राप्त होता है।' क्योंकि—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ (८.८)

'क्योंकि यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त **नान्यगामिना चेतसा** निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परमप्रकाशरूप, दिव्य पुरुष परमेश्वरको ही प्राप्त होता है।

●

जब व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णको खोजने चलीं !

अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी

★

['आनन्द-वृन्दावन-चम्पू' कवि कर्णपूरके १० ग्रन्थोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण, २२ स्तवकोंका गद्य-पद्यात्मक संस्कृत काव्यग्रन्थ है । ईसवी सन् १५२४ में नवद्वीप (नदिया) के काञ्चनपल्ली स्थानमें बंगालके वैष्णव-सम्प्रदायके वैद्य-कुलको अपने जन्मसे विभूषित करनेवाले इस कविकी 'कर्णपूर गोस्वामी' काव्योपाधि है । वास्तवमें इनका नाम है 'परमानन्ददास सेन' । ये चैतन्य महाप्रभुके परम भक्त माने जाते थे । भागवतके श्रीकृष्णान्वेषण प्रसंगके रसिकजन पूज्य स्वामीजीके शब्दोंमें इस कविके भी श्रीकृष्णान्वेषणका (१८ वाँ स्तवक) रस चखें ।]

कवि कर्णपूर गोस्वामी-विरचित 'आनन्द-वृन्दावनचम्पू' में व्रजाङ्गनाओं द्वारा श्रीकृष्णान्वेषणका बड़ा-सी हृदयग्राही वर्णन मिलता है । व्रजाङ्गनाएँ अपने मनमोहन कृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दको ढूँढ़ती हुई तमाल वृक्षसे पूछती हैं कि 'हे तमाल ! तुम्हारे सदृश वर्णवाले कृष्ण अवश्य ही तुम्हें दृष्टिगोचर हुए होंगे । अन्यथा तुममें इस तरह आनन्दाश्रु (मधुधारा) और पुलकावली (पुष्पपल्लवादि-विकाश) कभी न उभर पाती । प्रियतमने तुम्हें अपना सुहृद् मानकर आलिङ्गन किया है, इसीलिए तुम्हारी त्वचामें फैली हुई सुगन्धिका मधुव्रतगण (भौंरे) अवलेहन कर रहे हैं :

> हं हो तमाल तववर्णसुहृत् स कृष्णः
> सत्यं बभूव विषयस्तव माऽन्यथैतत् ।
> श्लिष्टोऽसि तेन यदयं त्वचि ते विसर्पी
> लीढो मधुव्रतगणेन तदीय - गन्धः ॥

जब तमालसे कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता, तब कहती हैं—'अहो सखि ! प्राणवल्लभ कृष्णके आलिङ्गनसे इसकी सारी वेदनाएँ मिट गयी हैं । तब यह दूसरोंकी वेदनाओंको क्या जाने ?' : तदीयालिङ्गनेन अपहृतवेदनो वेद नायं निवेदितम् ।

आगे चलकर तुलसीको देख उससे पूछती हैं—'सखि ! तू धन्य है । संसारमें तेरी तुलना कहाँ ? कल्याणि ! प्रणायिनी जानकर कमलनयन श्यामसुन्दरने स्नेहसे तुम्हारा स्पर्श अवश्य किया होगा । अतः सखि ! बतला, उस दयितको कहां ढूंढ़ें ? हम जैसे अनुरक्त जनोंके

अन्तःकरणका अपहरणकर मदनमोहन इसी मार्गसे गये होंगे। सुहृद् प्राणोंको अर्पण करके भी अपने सुहृद्की रक्षा करते हैं। तू तो सहज-करुणा है। तब बतला, श्यामसुन्दर किधर गये ?' :

कल्याणि पाणिकमलं कमलेक्षणेन
न्यस्तं त्वयि प्रणयिनीति रसादवश्यम्।
धन्यासि हे तुलसि ते तुलना क्व लोके
तन्नः समादिश स ते दयितः क्व लभ्यः॥
तस्मादस्मद्विधजन-मनःप्राणबुद्ध्यादिसारं
हारं हारं स तव दयितो वर्त्मनाऽनेन यातः।
ईर्ष्याहानेः सहजकरुणा त्वं तमाख्यातुमर्हा
स्वप्राणैर्यत् सुहृदिह सुहृत्प्राणरक्षां विधत्ते॥

किन्तु उत्तर न पाकर आपसमें कहती हैं—'अहो ! यह भी उनके विरहमें व्याकुल होकर तन्मयतासे उन्हींका चिन्तन करती प्रतीत हो रही है। इससे पूछनेसे क्या लाभ ? जो स्वयं उत्तप्त है, वह अन्यको क्या शीतल करेगा ? अतः चलो, अन्यत्र चलें।'

आगे मालतीको देखकर उससे कहती हैं—'सखि मालती ! सच कहना, क्या तुमने उस वनमालीको देखा ? यदि नहीं, तो फिर कुसुमरूप हास-विलास द्वारा तुम्हारे मानसका गर्व कैसे फूट पड़ रहा है ?' :

आलि मालति स किं वनमाली नालिलिङ्ग भवतीं नयनेन।
अन्यथा कुसुम-हासविलासैः किं प्रकाशयसि मानसगर्वम्॥

'अच्छा सखि ! इस जाती-लतासे पूछो। हे जाति ! तुम तो जाति (जन्म) से ही सरल हो, तुम कभी वञ्चना न करोगी। चञ्चलचेता कृष्णने निश्चय ही अपने नखर नखोंसे तुम्हें विक्षत किया होगा। सखि, इसीलिए तो तुम्हारे मुकुल (कलियाँ) लोहितत्व (लाली) को प्राप्त हो रहे हैं' :

जाति ! जातिसरलाऽसि सखि त्वं नातिवञ्चयसि चञ्चलचेताः।
त्वां नखैरलिखदेव यतस्ते लोहितत्वमगमत् मुकुलानि॥

उससे भी निराश होकर यूथिका (जूही) से पूछती हैं—'अयि यूथिके ! सखि ! तुम यूथीभूत (संघीभूत) भृङ्गों (भौंरों) के निनादके साथ क्यों रो रही हो ? क्या पश्यतोहर (डाकू) के समान माधवने अपने नेत्रोंसे ही हम लोगोंकी तरह तुम्हारा भी मन तो हर नहीं लिया ?' :

यूथिके किमपि रोदिषि यूथीभूत-भृङ्गनिनदेन निकामम्।
पश्यतोहर इवैष मनस्ते मादृशामिव दृशैव जहार॥

आगे चलकर कचनारसे प्रश्न करती हैं—'हे कोविदार ! तुम मनमोहन श्रीकृष्णके दर्शनमें कोविद (चतुर) हो। अतः कहो, वे कहाँ गये ? कारण माधवके दर्शनने तुम्हारा राग रक्त-कुसुमके छद्मसे व्यक्त होकर प्रतिभात जो हो रहा है' :

हे कोविदार ननु कोविद एव कृष्ण-
सन्दर्शनस्य स भवान् कथय क्व यातः।
यद्दर्शनेन हृदयाद् भवतः स रागो
निष्क्रम्य शोणकुसुमच्छलतो विभाति ॥

आगे चलकर पनस (कटहल) से पूछती हैं—'हे पनस ! तुम्हें संभ्रम न करना चाहिए। बताओ, हमारे चितचोर हरि कहाँ गये ? अहह ! उनके अवलोकनजन्य हर्षसे ही तुम कण्टकयुक्त पृथुतर (बहुत बड़े) फलोंसे विभूषित हो रहे हो ?' :

अयि पनस ! न संभ्रमो विधेयः
कथय हरिः क्व गतोऽस्मदात्मचौरः।
अहह यदवलोकहर्षतस्त्वं
पृथुतरकण्टकितैः फलैर्विभासि ॥

फिर बिल्वसे पूछती हैं—'बिल्वशाखे ! माधवने तुम्हारे फलोंका अवश्य स्पर्श किया होगा, इसीसे तुम कण्टकित हो रही हो कारण, तुम्हारे इस सत्फलपर अपनी कान्ताके पयोधर समझकर, निःशङ्क हो उसने अपना कर-कमल (हाथ) जो डाल दिया :

धन्याऽसि हे सखि विलासिनि बिल्वशाखे !
श्लाघ्यं वपुः किमपि कण्टकितं बिभर्षि।
कान्तापयोधरधिया तव सत्फलेऽस्मिन्
यत्पाणिपङ्कजमधाद् गतशङ्कमेषः ॥

आगे सहकार-शाखा (आमकी डाली) से पूछती हैं—'हे सखि, विलासिनि सहकार-शाखे ! मदनमोहनने अपने नखर नखोंसे तुम्हारे अभिनव मुकुलाग्र (कलीका, मञ्जरीका अग्र-भाग) लुञ्चन किया होगा। अतएव मधुके व्याजसे तुम अभिनव मुकुलाग्र-भङ्गरङ्ग (कलीका अग्र तोड़नेके रसिक) उस (नटवर) के नखरोंके विमर्शनके हर्षवश परमोचित अश्रु-विमोचन जो कर रही हो' :

अभिनव-मुकुराग्रभङ्गरङ्ग - परिचित-तन्नखराविमर्ष - हर्षात्।
तव सखि सहकारशाखिशाखे मधुमिषतोऽश्र निपात एष योग्यः ॥

उससे भी उत्तर न पाकर नीप (कदम्ब) से पूछती हैं—'अयि नीप ! इधरसे जाते हुए हरि तुम्हारे पास अवश्य आये होंगे और कन्दुक-क्रीड़ा (गेंद खेलने) के निमित्त तुम्हारा कुसुम तोड़नेके लिए तुम्हारी शाखापर अवश्य आरोहण किया होगा। कारण, तुम्हारे पल्लव

इधर-उधर बिखरे हुए हैं और कुछ पल्लव (कोंपल) भूमिपर लोट रहे हैं। ये भ्रमरवृन्द मधुरातिमधुर पुष्प-पल्लवादिके सौगन्ध्य-मधुको त्यागकर श्री श्यामसुन्दरके ही सौगन्ध्य-मधुके लोभसे उन्हींका अनुगमन कर रहे हैं' :

अयि नीप! हरिर्वनेन गच्छन्ननुकूलं तव मूलमाललम्बे।
कुसुमं तव कन्दुकाय चिन्वन्नपि शाखामनुमीयतेऽधिरूढः॥
यदितः पतितानि पल्लवानि प्रलुठन्तीह कियन्ति कोरकाणि।
भ्रमराश्च तमन्वयुर्भवन्तं बत सन्त्यज्य तदीयगन्धलुब्धाः॥

कभी प्रियतमके लीलामय विप्रयोगसे विह्वल होकर पशुओं, पक्षियों तथा मृगोंसे भी पूछती ये व्रजाङ्गनाएँ मानो यही उपदेश करती हैं कि 'अहङ्कार-अभिमान छोड़कर पशुओं और वृक्षोंतकसे प्रियतमका हाल पूछना चाहिए। प्रेमीको जड़ोंसे भी प्रियतमके मिलनेकी आशा रहती है। अहङ्कारी तो ज्ञानीको भी तुच्छ गिनते हैं।' वे पिक (कोयल) से कहती हैं—'हे पिक ! तुम हमारे प्रियतमके सखा हो, क्योंकि उनके मधुर स्वरके समान ही तुम्हारा भी स्वर सबको मोहनेवाला है' :

निखिलजनमनोहरः स्वरस्ते भवति तदीयकलस्वरानुकारी।

कहती हैं—'कोकिल ! तुम मनमोहनके समान ही श्यामवर्ण हो और उन्हींके सदृश तुम्हारे भी नयन लाल-लाल हैं। मनमोहनके सदृश तुम्हें भी वनसे प्रेम है और तुम्हारी वाणी भी वैसी ही सुस्निग्ध है। तुम्हारी रसालकी लालसा भी मोहन की रसासक्तिकी तरह है और माधवके समान तुम भी विरहिणीजनोंको अत्यन्त दुःख देते हो। मालूम पड़ता है, उनसे तुम्हारी जन्मसे ही मैत्री हो !' :

श्यामोऽसि शोणनयनोऽसि वनप्रियोऽसि
सुस्निग्धवागसि रसालसलालसोऽसि।
एकान्ततो विरहिणीजन - दुःखदोऽसि
जात्यैव तेन सह ते निबिडैव मैत्री॥

उसे भी निरुत्तर देख आगे चलकर हंसोंको देख उससे पूछती हैं—'हे सखि हंसी ! आओ, आओ। तुम यमुना-तटकी ओरसे आ रही हो। बताओ, क्या तुझे अगाधवत्सला यमुनाने हम लोगोंको ले आनेके लिए इतनी शीघ्रतासे भेजा है ? ठीक है, वे मदनमोहन प्राणधन वहीं यमुना-तटीपर होंगे !' :

एह्येहि हंसि सखि शंस पतङ्गपुत्र्या
किं प्रेषिताऽसि पुरुवत्सलया त्वमत्र।
आं तत्तटीमनु स वर्तत एव तस्मा-
दस्मान् निनाययिषुराशु दिदेश सा त्वाम्॥

उससे भी उत्तर न पाकर आगे चलती हैं। वहाँ भ्रमरोंको देख उनसे प्रश्न करती हैं—'अयि भ्रमर-गण ! आसमन्तात् (चारों ओर) विकसित परम मनोहर सुगन्धयुक्त कुसुमावलियोंकी उपेक्षाकर तुम लोग किस कारण आकाशमें घूम रहे हो, भला बताओ तो सही ? हाँ, समझ गयीं; उसी मनमोहन प्रियतम श्रीकृष्णके लोकोत्तर दिव्य अंग-सौगन्ध्यका आस्वादन कर तुम लोग उसीमें मत्त जो हो गये हो !' :

विहाय परितः स्फुटाः सुरभिगन्धपुष्पावली-
विहायसि समीरणान्धितधिया त्वया भ्रम्यते।
अयि भ्रमरमण्डलि ! प्रथमहेतुमस्येति ता-
स्तदीय कलगुञ्जितैः स्वगतमर्थमेवाविदन्॥

आगे चक्रवाकीको देख उससे कहती हैं—'सखि ! चक्रवाकि ! तुमने जिसे (श्रीकृष्णको) बार-बार देख अपने प्रियतम (पति चक्रवाक) का वियोग-दुःख मनसे दूर कर दिया, उसीको हमें दिखानेके लिए मानो इतनी शीघ्रतासे इधर आ रही हो। ठीक ही है, अकारण स्नेह करनेवालोंका यही तो मार्ग है !' :

हे चक्रवाकि दयितस्य वियोगदुःखं
यं वीक्ष्य वीक्ष्य भवती मनसो निरास।
तं नो दिदर्शयिषुरेति जवादुपेत्य
निर्हेतु-सौहृदजुषामयमेव मार्गः॥

•

भारत-मृगेन्द्रसे !

भारत ! सदासे तू मृगेन्द्र कहलाता रहा,
तेरा तो हिमालयसे सिन्धुतक राज है !
शूर-वीर तू है, तेरी सत्ता भी अखण्ड रहो—
विश्व-विजयी तू, तेरा ख्यात न्याय-काज है !
धर्मयुद्ध करनेसे तूने मुख मोड़ा नहीं
और तप-त्याग-युक्त तेरा सब साज है।
कहे 'कविपुष्कर' न कालसे डरा तू कभी
इस पुण्य-पृथिवीकी तेरे हाथ लाज है !

—श्री जगन्नारायणदेव शर्मा 'कविपुष्कर'

गुरु नानककी अमृत-वाणी

नानकु तिनके चरन पखालै !

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट

ऐसे जन विरले जग अंदरि परखि खजानै पाइआ ॥
जाति वरन ते भए अतीता ममता लोभु चुकाइआ ॥
नामि रते तीरथ-से निरमल दुखु हउमै मैलु चुकाइआ ॥
नानकु तिनके चरन पखालै जिना गुरमुखि साचा भाइआ ॥
[प्रभाती असटपदीआ, महला विभास, आदिश्री गुरुग्रन्थसाहिबजी, पृष्ठ १३४५]

नानक गौरवका अनुभव करता है ऐसे हरिनामरूपी खजानेके पारखी लोगोंके चरण पखालनेमें, उनके चरणोंका प्रचालन करनेमें, जो जाति और वर्णसे ऊपर उठ गये हैं। जो छोटे-छोटे दायरोंसे ऊपर उठ गये हैं।

ममता और लोभसे ऊपर उठनेवाले महानुभाव विरले होते हैं। माया और मोहके विकार उन्हें विचलित नहीं कर पाते।

धन्य हैं वे महापुरुष जो रातदिन उस परमप्रभुका नाम जपते रहते हैं। वे तो तीर्थ हैं, तीर्थ। तीर्थोंकी भाँति निर्मल और पवित्र। दूसरोंको भी पवित्र और निर्मल बनानेवाले। तरन-तारन! दुःख उन्हें व्यथित नहीं कर पाता। अहंकार उनपर हावी नहीं हो पाता।

गुरुकृपासे वे रात-दिन सत्यरूप परमेश्वरके प्रेममें डूबे रहते हैं। वही उन्हें भाता है। धन्य हैं ऐसे सत्पुरुष! कोटि-कोटि प्रणाम हैं उनके चरणोंमें।

× × ×

वे ही पुरुष प्रधान पुरुष हैं।

ते माणस परधान

सचु वरतु संतोखु तीरथु गिआनु धिआनु इसनानु ।
दइआ देवता खिमा जपमाली ते माणस परधान ॥
जुगति धोती सुरति चउका तिलकु करणी होइ ।
भाउ भोजनु नानका विरला त कोई कोइ ॥
[सारंगकी वार, सलोक, महला १, पृष्ठ १२४५]

सत्य है उनका व्रत।
तीर्थ है उनका संतोष।
स्नान है उनका ज्ञान और ध्यान।
देवता है उनका दया और करुणा।
जपमाला है उनकी क्षमा।
धोती है उनकी युक्ति। प्रभुसे मिलनेकी युक्ति, साधना।
स्वच्छ, पवित्र चौका हैं उनका—सुरति, जागृत विवेक।
तिलक है उनका—करणी, सत्कर्म।

भोजन है उनका—प्रेमभाव, प्रभुचरणोंमें प्रेम।

विरले होते हैं ऐसे सत्पुरुष, जिनका जीवन, सत्य, संतोष, ज्ञान, ध्यान, दया, करुणा, क्षमा, साधना, विवेक, सत्कर्म एवं प्रभुप्रेमसे ओत-प्रोत रहता है। धन्य हैं ऐसे महाभाग !

मोख मुकति सो पावै मोक्ष या मुक्ति उसी महाभागको मिलती है :

एक नगरी पंच चोर बसीअले बरजत चोरी धावै।
त्रिहदस माल रखै जो नानक मोख मुकति सो पावै ॥

[गूजरी असटपदीआ, महला १, घरु १, पृष्ठ ५०३]

काया-नगरीमें पाँच चोर डेरा डाले बैठे हैं। वे हैं : काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार। लाख रोको उन्हें, पर वे भला बाज आनेवाले हैं चोरी करनेसे ? केवल वही व्यक्ति इन चोरोंसे छुटकारा पा सकता है जो अपने आपको तीन गुणोंसे और दस इन्द्रियोंके विकारोंसे बचाये रखता है। उसीको मोक्ष मिलता है, उसीको मुक्ति मिलती है।

प्रणवति नानक हम ताके दास त्रिगुणातीत, जितेन्द्रिय महापुरुष सत्यका पुजारी होता है। उसके जीवनमें सत्यरूप परमेश्वरकी प्रतिष्ठा होती है। उसके दर्शनसे मानव निहाल हो उठता है :

ऐसो दासु मिलै सुखु होई। दुखु विसरै पावै सचु सोई ॥
दरसनु देखि भई मति पूरी। अठसठि मजनु चरनह धूरी ॥

ऐसे व्यक्तिका दर्शन होनेसे सुख होता है। दुख भुला जाता है। सत्यकी प्राप्ति होती है। बुद्धि पूर्णताको पा जाती है। ६८ तीर्थोंका स्नान है उसके चरणोंकी धूल !

फिर तो जिधर देखता है उधर सत्यकी ही झाँकी होने लगती है :

जह जह देखउ तह तह साचा। बिनु बूझे झगरत जगु काचा ॥

सत्यरूप परमेश्वरका ज्ञान न रहनेसे ही तो सारा संसार व्यर्थमें झगड़ता रहता है। पर ऐसे प्रभुभक्तको तो सत्यरूपी परमेश्वरका सर्वत्र दर्शन होता है।

साचु रिदै सचु प्रेम निवास। प्रणवति नानक हम ताके दास ॥

[गउड़ी महला १, ८, पृष्ठ २२४

उसके हृदयमें सत्यका, प्रेमका, परमेश्वरका निवास रहता है। ऐसे सत्पुरुषके चरणोंमें नानक प्रणिपात करता है।

गुरुनानकके श्रद्धेय, वरेण्य महापुरुषकी कैसी अनूठी तस्वीर है यह ! काम क्रोध, माया-मोह, विषय-विकारोंसे मुक्त, सत्य-प्रेम-करुणाके प्रतीक सत्पुरुषके चरणोंमें नानक कोटि-कोटि प्रणाम अर्पित करते हैं।

कैसा सद्भाग्य है उस पुरुषका, जिसे ऐसे आदर्श महापुरुषके चरणोंमें बैठनेका सुअवसर मिल जाता है। धन्य हो उठता है उसका जीवन !

आइये, गुरुनानकके साथ-साथ हम भी उसके चरण पखालें।

गोला-बारूद और उससे चालित अस्त्र भारतकी ही देन

एक किताबी कीड़ा

★

बारूदकी खोजने युद्धोंका रूप ही बदल दिया है। आजकल इसीके प्रयोगपर युद्धोंका वारा-न्यारा होता रहता है। तोप, बन्दूक, तमञ्चा, बम, सुरङ्ग समीमें इसका प्रयोग होता है। दृढ किलोंको यह क्षणभरमें उड़ा सकता है। संहारके इस प्रबल साधनको किसने, कहाँ ढूँढ़ निकाला, यह प्रश्न अभी विवादास्पद ही है। कहा जाता है कि जर्मनीके एक पादरीने, जिसका नाम 'बर्थोल्ड श्वार्ज' था, सन् १३३० के लगभग इसे बनाया। पर उससे पहले 'रोजर बेकन' (१२१४–९४) को, जो ऑक्सफोर्डमें अध्यापक थे, शोरा और गन्धकके विस्फोटक गुणोंका ज्ञान था। उन्होंने अपनी एक पुस्तकमें लिखा था कि इनके योगसे एक वस्तु बन सकती है, जिसके प्रयोगसे युद्धमें बड़ा लाभ हो सकता है। इसके प्रज्वलित होनेपर बिजलीकी-सी कड़क और चमक होती है। कहा जाता है कि बेकन जब स्पेनकी यात्रा कर रहे थे तब उन्हें वहाँ मुसलमानोंसे, जिन्होंने उन दिनों उस देशको जीत लिया था, इसके नुसखेका पता लगा था। वहाँके एक पुस्तकालयमें सन् १२४९ का अरबी भाषामें लिखा हुआ बारूदपर एक लेख अब भी सुरक्षित है। पेरिस (फ्रांस) के राष्ट्रिय पुस्तकालयमें 'मार्कस ग्रेकस'का लिखा हुआ एक हस्तलिखित ग्रन्थ है, जो सन् १८०६ में प्रकाशित हुआ। ग्रेकस कब हुआ, यह निश्चित नहीं। कुछ लोगोंकी रायमें उसका जन्म तेरहवीं शताब्दीमें हुआ। उसमें भी बारूदका एक नुसखा लिखा हुआ है, जिसके अनुसार उसमें २ अंश कोयला, १ अंश गन्धक और ६ अंश शोरा होना चाहिए।

सन् ६६८के लगभग जब कुस्तुनतुनियापर अरबोंका आक्रमण हो रहा था, यूनानके कालिनिकस नामक एक कारीगरने लोहेकी बड़ी-बड़ी नलियाँ बनायीं, जिनकी आकृति पशुओंके खुले हुए मुखकी तरह थी और उनमेंसे पत्थर तथा लोहेके टुकड़े फेंकनेकी युक्ति भी उसने ढूँढ़ निकाली। इनकी मारसे विवश होकर अरबोंको हटाना पड़ा। चार सौ वर्षतक यूनानियोंने इस नुसखेको गुप्त रखा। किन्तु किसीके विश्वासघातसे इसका पता मुसलमानोंको लग गया और उन्होंने ईसाके जन्मस्थान यरूशलमको जीतनेमें इसका प्रयोग किया। फ्रांसके राजा

'फिलिप आगस्टस'को भी इसका पता लगा और उन्होंने कुछ अंग्रेजी जहाजोंको उड़ानेमें इसका प्रयोग किया। प्राय: तभीसे यूरोपीय युद्धोंमें इसका प्रयोग होने लगा। कहा जाता है कि अरबोंको बारूदका ज्ञान बहुत पहलेसे था और उन्होंने उसे भारतसे प्राप्त किया, जिसके साथ प्राचीन कालसे उनका व्यापारिक सम्बन्ध था। सन् १७९८में सबसे पहले 'लांसले' नामक एक फ्रांसीसी विद्वान्ने अपना यह मत प्रकट किया। एक दूसरे विद्वान् 'जोहन बैकमन' (१७३९–१८११) ने भी अपनी 'हिस्ट्री ऑफ इनवेशन्स ऐण्ड डिस्कवरिज्' नामक पुस्तकमें इस मतका समर्थन किया। आपने लिखा कि "मेरा विश्वास है कि बारूद पहले-पहल भारतमें बनी, वहाँसे अफ्रीकाके मुसलमानोंने सीखा, जिनके द्वारा यूरोपमें इसका प्रचार हुआ। वहाँके लोगोंने इसमें कई सुधार किये और इसके विभिन्न प्रयोगोंको ढूँढ़ निकाला।"

पूर्वी देशोंका इतिहास देखनेपर पता चलता है कि जब दिल्लीके निकट सुलतान महमूद तथा तैमूरका युद्ध हुआ, तब सुलतानकी ओरसे ५० हाथियों.के हौदोंपरसे कुछ जलते हुए अस्त्र फेंके गये, जिनसे तैमूरकी सेनाको पीछे हटना पड़ा। चटनीरके आक्रमणमें इतिहासकार 'फिरिश्ता'के अनुसार सन् १२५९ में जब प्रसिद्ध मुगल हलाकू खाँका दूत दिल्ली आया, तो आग्नेयास्त्र चलानेवाली तीन हजार गाड़ियोंके साथ उसका स्वागत किया गया। उन दिनों युद्धमें बारूदसे चलनेवाले 'बाण'का प्रयोग होता था। सन् १००८ में महमूद और आनन्दपालसे भी जो युद्ध हुआ, उसमें फिरिश्ताके अनुसार तोप और तुफंग (बन्दूक) का प्रयोग किया गया था। 'पृथ्वीराज-रासो'में 'नलगोला' शब्दका प्रयोग मिलता है। मुहम्मद कासिमने सन् ७११ में देवलपर आक्रमण करते समय 'मञ्जरीक' नामक फेंकनेवाले एक अस्त्रका प्रयोग किया था। एक रोमन इतिहासकार 'फ्लेवियस फाइलो स्टैटस'ने लिखा है कि जब थ्यानका अपोलोनियस भारतकी यात्रा कर रहा था, तब उसे असली बातोंका पता लगा, जिनके कारण सिकन्दरको भारतमें आगे बढ़नेकी हिम्मत न हुई। वह लिखता है कि 'गङ्गाके तटवर्ती प्रदेशमें बहुत-से योगी रहते थे, सिकन्दरको उनका बड़ा भय था। उस प्रदेशपर वह कुछ समयके लिए भले ही अधिकार कर लेता, किन्तु वहाँके नगर उसके हाथमें कभी न रहते। एचिलिस और अजाक्स-सरीखे हजारों योद्धाओंके रहते हुए भी सफलता न मिलती, क्योंकि वहाँके निवासी बिना युद्धक्षेत्रमें आये हुए ही नगरकी दीवारों परसे वज्रोंका प्रहार करते हैं, जिसके सामने कोई ठहर ही नहीं सकता।'

कहा जाता है कि मिस्रदेशके हरकुलिस और बाक्चस आदिने भारतके इस प्रदेशपर भी आक्रमण किया था। उनकी सेनाके साथ तरह-तरहके शस्त्रास्त्र थे, पर पहले किसीने रुकावट नहीं डाली। जब वे नगरोंके बिलकुल निकट पहुँच गये, तब तो ऊपरसे उनपर बिजलीका प्रहार होने लगा। सिकन्दरने अपने गुरु 'अरस्तू'को एक पत्रमें लिखा था कि 'जलती हुई बिजलीके प्रहारोंसे उसकी सेनाको बड़ी क्षति उठानी पड़ी।'

हिन्दूधर्मशास्त्रपर एक फारसी ग्रन्थका अनुवाद सन् १७७० में अंग्रेजीमें किया गया, जो 'कोड आफ जेण्टू लाज'के नामसे प्रसिद्ध है। उसकी भूमिकामें लिखा हुआ है कि 'लोगोंको

यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि भारतमें अतिप्राचीन कालसे बारूदका प्रयोग होता था। रोमन-लेखक 'क्विंटस कर्टियस'ने जो लिखा है कि सिकन्दरको बारूदके अस्त्रोंका सामना करना पड़ता था, वह ठीक ही जान पड़ता है। भारत और चीनमें बारूदके अस्त्रोंका कबसे प्रयोग होता था, यह कहना बड़ा कठिन है। ऐसे अस्त्रोंका प्राचीन नाम 'आग्नेयास्त्र' है, जिसका ठीक अनुवाद 'फायर आर्म्स' है। पहले यह एक बाण या 'शर'के रूपमें होता था, जो ऊपर जाकर फूट जाता और उससे कई बाण बन जाते थे। तोपको तो संस्कृतमें 'शतघ्नी' कहते हैं। हिन्दू-इतिहास, पुराणोंके अनुसार ऐसे अस्त्रोंका आविष्कार विश्वकर्माने किया था।'

अपने यहाँ इतिहास-पुराणोंमें 'आग्नेयास्त्र' की बराबर चर्चा आती है। बहुत सम्भव है कि वह बारूदसे चलाया जानेवाला कोई अस्त्र हो। इन अतिप्राचीन ग्रन्थोंके अतिरिक्त साहित्य तथा नीतिके ग्रन्थोंमें ऐसे अस्त्रोंका स्पष्ट वर्णन मिलता हैं। इनमें बारूदके लिए 'अग्निचूर्ण' या केवल 'चूर्ण' और बन्दूकके लिए 'नालिका' शब्दका प्रयोग मिलता है। 'आथर्वण-रहस्य' का एक भाग है, जिसका नाम है, 'राजलक्ष्मीनारायण-हृदय।' उसमें लिखा हुआ है—कोयला, गन्धक आदि पदार्थोंके योगसे कर्ता व्यक्तिके इच्छानुसार जैसे अग्नि प्रदीप्त होता है, वैसे ही चैतन्यस्वरूपमें मेरी भक्तिके योगसे हे लक्ष्मी ! इच्छानुरूप स्वरूपको शीघ्र स्वीकृत करो :

इङ्गाल-गन्धादि - पदार्थयोगात् कर्तुर्मनीषानुगुणो यथाऽग्निः।
चैतन्यरूपे मम भक्तियोगात् काङ्क्षानुरूपं भज रूपमाशु ॥

अनन्तभट्टके 'भारत-चम्पू'में, जिसका निर्माण-काल आजसे ४०० वर्ष पूर्व माना जाता है, एक पद्य आता है, जिसका अर्थ है—'वह विकट योद्धा सीसेकी गोलियोंसे, जो पलीता लगानेपर नलीसे जल्दी-जल्दी निकलती है, अपने शत्रुओंको इस तरह मारता है जिस तरह वर्षा ग्रीष्मको ओलोंद्वारा, जो काले-काले बादलोंसे बिजलीकी चमक मिलते ही गिरते हैं :

कालाम्बुदालि-नलिकात् क्षणदीप्तिवर्त्यं
सन्धुक्षितान् सपदि सध्वनि निस्सरद्भिः।
वर्षाश्मसीस - गुलिकानिकरैः कठोरैः
घर्माभिपातमवधीद् घनकालयोधः ॥

वैशम्पायनने अपनी 'नीति-प्रकाशिका'में, जो एक प्राचीन ग्रन्थ समझा जाता है, 'धूमगुलिका' का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ किया गया है 'चूर्णगोला' अर्थात् 'बारूदका गोला'। 'कामन्दकीय-नीतिसार' में बतलाया है कि मद्यपान, स्त्री, द्यूतगोष्ठीमें प्रमादप्राप्त राजाको 'नालिकादि' से सावधान करें (५. ५१)। 'नालिकादि' का अर्थ यही हो सकता है कि 'बन्दूक आदिके शब्द' से। इससे पता चलता है कि तोप आदिकी आवाजसे उन दिनों भी समयकी सूचना देनेकी चाल थी। कलकत्तासे प्रकाशित 'नीतिसार' में 'नालिकादि' के स्थानपर 'नाडिकादि' पाठ है, जिसका अर्थ बतलाया जाता है कि 'अब इतना समय बीत गया'। किन्तु दक्षिणमें जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, उन सबमें 'नालिकादि' ही पाठ है और उसका अर्थ 'बन्दूक' ही ठीक बैठता है।

बन्दूक और बारूदका सबसे स्पष्ट विवरण 'शुक्रनीतिसार' में मिलता है। चतुर्थ अध्यायके प्रकरण सातमें बतलाया गया है कि फेंकनेवाले अस्त्र दो प्रकारके होते हैं : एक 'यान्त्रिक' और दूसरा 'नालिक'। इनमें 'यान्त्रिक' यन्त्रशक्ति द्वारा और 'नालिक' अग्निशक्ति द्वारा फेंके जाते हैं। जहाँ 'यान्त्रिक' न हो, 'नालिक' का प्रयोग करना चाहिए। नालिक दो प्रकारके होते हैं : 'नालिकं द्विविधं ज्ञेयं बृहत्-क्षुद्रविभेदतः।' उसकी नली ढाई हाथ लम्बी, तिरछे छिद्रसे युक्त और मूलभागकी ओर, ऊर्ध्वछिद्रसे युक्त होनी चाहिए। उसके मूल और अग्रभागपर निशाना साधनेके लिए तिलबिन्दु होना आवश्यक है। उसके मूल छिद्रमें यन्त्रके आघातसे जल उठनेवाले पत्थरका चूर्ण रखना चाहिए। उस नलीके नीचेके भागमें अच्छी लकड़ीका कुन्दा होना चाहिए। नलीका पोलापन मध्यम अंगुलीके बराबर होना चाहिए। उस नलीके भीतर अग्निचूर्ण भरना चाहिए और बारूद भरनेके लिए साथमें मजबूत शलाका (छड़) रखना चाहिए। यह 'लघु-नालिका' (बन्दूक) है, इसका उपयोग पैदल और घुड़सवार सेनाको करना चाहिए। जैसे-जैसे इस नलीकी मोटाई अधिक रखी जाय, बीचमें छेद बढ़ाया जाय, लम्बाई बढ़ायी जाय और गोली भी उसीके अनुसार बड़ी की जाय, वैसे-वैसे वह अस्त्र अधिक दूरतक लक्ष्य-भेदनमें उपयोगी होता है। जो मूलभागमें काष्ठसे बनाया हुआ तथा मूलभागमें लगी कीलके घुमानेसे इष्ट-लक्ष्य दिशाकी ओर घूम जाता है, वह 'बृहन्नालिका' (तोप) कहा जाता है। यह छकड़े आदि वाहनोंपर ले जाया जाता है। यदि अच्छी रीतिसे इसका उपयोग किया जाय, तो इसकी सहायतासे युद्धमें विजय प्राप्त होती है :

तिर्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं नालं पञ्चवितस्तिकम्।
मूलाग्रयोर्लक्ष्यभेदि तिलबिन्दुयुतं सदा॥
यन्त्राघाताग्निकृद् - ग्रावचूर्णधृक् - कर्णमूलकम्।
सुकाष्ठोपाङ्गबुध्नश्च मध्याङ्गुलबिलान्तरम्॥
स्वान्तेऽग्निचूर्णसन्धातृ - शलाकासंयुतं दृढम्।
लघुनालिकमप्येतत् प्रधार्यं पत्तिसादिभिः॥
यथा यथा तु त्वक्सारं यथास्थूलबिलान्तरम्।
यथा स्थूलबृहद्गोलं दूरभेदि तथा तथा॥
मूलकीलभ्रमाल्लक्ष्य - समसन्धानभाजि यत्।
बृहन्नालकसंज्ञं तत् काष्ठबुध्न-विनिर्मितम्।
प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तु सुमुक्तं विजयप्रदम्॥

इसमें बारूद बनानेका नुसखा इस प्रकार बतलाया है—शोरा ५ पल, गन्धक १ पल, अन्तर्धूम पकाया हुआ अर्क (आक) तथा स्नुही (सेहुड़) आदिका शुद्ध कोयला १–१ पल इन सबको एकमें मिलाकर खूब बारीक पीसना चाहिए। फिर उसे अर्क तथा स्नुहीके ही रसमें पुट देकर धूपमें सुखा लेना चाहिए। तब उसे शर्कराकी तरह पीस देनेपर 'अग्निचूर्ण' तैयार हो जाता है :

सुवर्चिलवणात् पञ्चपलानि गन्धकात् पलम्।
अन्तर्धूमविपक्वार्क - स्नुह्याद्यङ्गारतः पलम् ॥
शुद्धात् सङ्ग्राह्य सञ्चूर्ण्य सम्मील्य प्रपुटेद्रसैः।
स्नुह्यर्काणां रसोनस्य शोषयेदातपेन च।
पिष्ट्वा शर्करवच्चैतदग्निचूर्णं भवेत् खलु ॥

कोयला, गन्धक, शोरा, पत्थर, हरताल, सीसा, हिंगुल, लोहचूर्ण, कपूर, जतु (लाह), नीली तथा देवदारका धूप या राल इन सबको बराबर या न्यूनाधिक लेनेसे चन्द्रप्रभायुक्त कितने ही प्रकारका अग्निचूर्ण अग्निञ्जन बनाते हैं :

अङ्गारस्यैव गन्धस्य सुवर्चिलवणस्य च।
शिलाया हरितालस्य तथा सीसमलस्य च ॥
हिङ्गुलस्य तथा कान्तरजसः कर्पूरस्य च।
जतोर्नील्याश्च सरलनिर्यासस्य तथैव च ॥
समन्यूनाधिकैरंशै - रग्निचूर्णान्यनेकशः।
कल्पयन्ति च तद्विज्ञाश्चन्द्रिकाभादिमन्ति च ॥

बन्दूकके लिए लोहेका गोला, भीतर बहुत-सी छोटी गोलियोंसे भरा हुआ अथवा बिना गोलियोंका होना चाहिए :

गोलो लोहमयो गर्भगुटिकः केवलोऽपि वा।

बन्दूककी नली चाहे केवल शुद्ध लोहे या अन्य धातुकी हो, उसे बराबर खूब माँज-धोकर साफ तथा पहरेमें रखना चाहिए :

लोहसारमयं वाऽपि नालास्त्रं त्वन्यधातुजम्।
नित्य - संमार्जन - स्वच्छमस्त्रपालिभिरावृतम् ॥

पहले नली साफ करके फिर उसमें बारूद डालना चाहिए। गजसे जहाँतक नलीके मूलमें बारूद जा सके, डालना चाहिए। उसके बाद गोली भरकर नीचे पलीता लगानेवाले छेदमें बारूद देना चाहिए। तब बारूदमें अग्नि लगाकर निशानेपर गोला फेंकना चाहिए :

नालास्त्रं शोधयेदादौ दद्यात् तत्राग्निचूर्णकम्।
निवेशयेत् तद्दण्डेन नालमूले यथा दृढम् ॥
ततः सुगोलकं दद्यात् ततः कर्णेऽग्निचूर्णकम्।
कर्णचूर्णाग्निदानेन गोलं लक्ष्ये निपातयेत् ॥

किलेपर बन्दूकधारी सिपाहियोंका पहरा रहना चाहिए :

यामिकै रक्षितो नित्यं नालिकास्त्रैश्च संयुतः।

सेनामें घुड़सवारोंके आगे-आगे बड़े नालिका-यन्त्र अर्थात् तोपें रहनी चाहिए :

वृहन्नालिकयन्त्राणि ततः स्वतुरगीगणः।

इससे बढ़कर प्राचीन भारतमें तोप-बन्दूकोंके प्रयोगका प्रमाण क्या हो सकता है ?

इसपर कहा जाता है कि 'शुक्रनीतिसार 'तो आधुनिक ग्रन्थ है। किन्तु इसके समर्थनमें कोई उपयुक्त प्रमाण नहीं दिये जाते। 'महाभारत'में बतलाया गया है कि ब्रह्माने जो नीति बनायी थी, उसीका सार शुक्रने तैयार किया (शान्तिपर्व)। शुक्रके वचन कई प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलते हैं। कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि श्लोक बादके मिलाये हुए हैं। पर इसका भी कोई कारण नहीं जाना पड़ता। बारूदमें चकमक पत्थर (फ्लिट) द्वारा अग्नि पैदा करनेके उल्लेखपर भी लोगोंको सन्देह होता है। कहा जाता है कि इसका हिन्दुओंको ज्ञान नहीं था। यह बात भी बे-सिरपैरकी है।

'नीति-प्रकाशिका' में रुई आदिके साथ यह भी संग्रहणीय वस्तु बतलायी गयी है :

शाल्मली-तूलिकां चैवाप्यश्मसाराश्मसंयुतम्।

तमिलमें इसे 'शकीमुखी' कहते हैं, जो संस्कृत 'शिलामुख' हो सकता है।

कुम्भघोणम्, मदुरा, काञ्जीपुरम्, तञ्जौर आदि दक्षिणके कई स्थानोंके कुछ प्राचीन मन्दिरोंमें बन्दूक लिये हुए सिपाहियोंकी मूर्तियाँ बनी हैं। कहा जाता है कि या तो ये मन्दिर प्राचीन नहीं हैं या वे मूर्तियाँ बादकी बनी होंगी। किन्तु इन मन्दिरोंकी प्राचीनता इतिहास-कारोंने स्वीकार की है। दूसरी बात यह ध्यान देनेकी है कि दक्षिणके मन्दिर शिल्पशास्त्रानुसार बने हुए हैं, उनमें कोई विदेशी वस्तु दिखलायी नहीं जा सकती। 'मरीचि-पटल' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ बतलाया जाता है, जिसमें बन्दूक आदि अस्त्रोंकी मूर्तियाँ बनानेका प्रकार दिया गया है। आजकलके मन्दिरोंके द्वारपर गोरे सिपाहियोंके चित्र भी बना दिये जाते हैं, पर तब यह सम्भव न था। उस समय तो प्राचीन-परम्पराविरुद्ध मन्दिरादिके निर्माणमें कोई वस्तु आ ही नहीं सकती थी। जिन द्रव्योंसे बारूद बनता है, भारतमें वे अधिकतासे पाये जाते हैं। आतशबाजीका देशमें कितना प्रचार है ? अशोकके शिलालेखों तकमें इसका उल्लेख 'अग्निखन्ध' (अग्निस्कन्ध) के नामसे मिलता है। आतशबाजी बारूदसे ही बनती है।

इन सब प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि बारूद और उसके द्वारा चलाये जानेवाले अस्त्र पहले-पहल भारतमें ही बनें। श्री 'गुस्टफ ओपट' प्रेसिडेंसी कालेज, मद्रासमें संस्कृत अध्यापक थे। आपने अंग्रेजीमें एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है : 'वेपन्स, आर्मी आर्गं-नाइजेशन ऐण्ड पोलिटिकल मैक्जिम्स ऑफ दि एनशेण्ट हिन्दूज्' ('प्राचीन हिन्दुओंके हथियार, सैनिक सङ्गठन और राजनीति-सिद्धान्त')। यह पुस्तक सन् १८८० में प्रकाशित हुई है। उसमें इस विषयपर विशेष रूपसे विचार किया गया है। प्रस्तुत लेख उसीके आधार पर है।

●

विश्वके धर्मोंमें अमरत्वका सिद्धान्त

श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह

★

'आल्डुअस हक्सले'ने अमरत्व और अस्तित्व दोनोंमें विभेद किया है। उनके अनुसार दैवी मूलाधारके अनन्त रूपमें भाग लेना अमरत्व है और कालके रूपोंमें बने रहना अस्तित्व है। अमरत्व पूर्णमुक्तिका फल है तो अस्तित्व उन आत्माओंका स्वर्गमें निवास है, जो आंशिक रूपसे मुक्त हुए हैं। भारतीय धर्मोंने भी स्वर्ग-निवासको अक्षय नहीं माना है। गीतामें कहा गया है कि पुण्य क्षीण होनेपर जीवोंको स्वर्गसे पुनः मर्त्यलोकमें जाना पड़ता है : क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

हमारे यहाँ ईश्वर और जीव दोनों को ही अमर माना है। अद्वैत सिद्धान्तमें जहाँ ब्रह्मके सिवा दूसरा ऐसा कोई तत्त्व नहीं जो अजर, अमर और अविनाशी हो वहीं द्वैतमतोंमें जीवको ईश्वरका अंश मानकर दोनोंको अजर-अमर माना है। दोनोंका स्वरूप तो एक ही है, किन्तु शक्तिमें अंतर है :

ईश्वर अंश जीव अविनासी। सत चेतन घन आनन्दरासी॥

(रा० च० मा०)

विशेषकर अद्वैतमें इनके अलावा एक तीसरा तत्त्व प्रकृति या माया मानी गयी है, जो दोनोंके बीच भेद उत्पन्न कर देता है :

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।

सांख्यशास्त्र प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि और अनन्त मानता है :

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। (गीता)

इस प्रकार अनेक सिद्धान्त हैं, किन्तु अमरताके सम्बन्धमें सभी एकमत है। 'योगवाशिष्ठ'में कहा गया है कि पानी चाहे चञ्चल रहे या स्थिर, दोनों ही पानी है। मुक्त पुरुषके लिए शरीरी या अशरीरी होना दोनों समान है। समुद्र शान्तावस्था और तूफान दोनोंमें समुद्र ही रहता है। सामवेद तो पंचभूतोंको भी अमर मानता है। आकाशके सम्बन्धमें वह कहता है :

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

ब्रह्मके सम्बन्धमें उपनिषदे कहती हैं कि वह अजर, अमय और अमृत है :

अजरममृतमभयं यद् विभाति।

इसीलिए मनुष्यकी सदा अमरताकी आकांक्षा रहती है और वह प्रार्थना करता है मुझे सत्से असत्की ओर ले चलो, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलो और मृत्युसे अमृत्युकी ओर ले चलो :

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतंगमय।

उपनिषदोंमें बार-बार आग्रह किया गया है कि अन्य बातोंको छोड़कर केवल आत्माको जान लो, क्योंकि वह अमरताका सेतु है :

तमेवैकं विजानथ, अन्या वाचो विमुञ्चथ, अमृतस्यैष सेतुः।
(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

बृहदारण्यक उपनिषद्में जब याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी दोनों पत्नियोंमें सम्पत्तिका विभाजन करके संन्यास लेना चाहते हैं तो ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी कहती है : मैं इस धनका क्या करूँगी, जो मुझे अमर नहीं बना सकता : येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।

गीतामें आत्माकी अमरता बता कर ही भगवान्ने अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त किया था।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

जैन-धर्ममें भी अमरताके सिद्धान्तका समर्थन किया गया है। 'उत्तराध्ययनसूत्र'में कहा गया है आत्माकी कोई मृत्यु नहीं होती : अतना नत्थि नाशोति।

बौद्ध-धर्ममें निर्वाणका सिद्धान्त माना गया है। इस निर्वाणको आनन्दमय तो बार-बार जन्म-मरणको दुःखमय कहा गया है। 'निर्वाणसुत्त'में लिखा है कि निर्वाणके समान आनन्द किसीमें नहीं, वह अनन्त है।'

विद्वानोंमें इसपर मतभेद है कि भगवान् बुद्ध आत्माका अस्तित्व मानते भी थे या नहीं। बात यह थी कि उनके पूर्व उपनिषदोंमें ब्रह्म और आत्माकी इतनी अधिक चर्चा हो चुकी थी कि उन्होंने उस विषयमें मौन ही धारण करना उचित समझा। उनके मौनका अर्थ हम स्वीकृति समझ सकते हैं : मौनं स्वीकृतिलक्षणम्।

इसके अतिरिक्त भगवान् बुद्धके प्रवचनोंमें बार-बार आत्माका उल्लेख आता है। जैसे—आत्मा ही आत्माका स्वामी है, दूसरा कौन उसका स्वामी हो सकता है :

अता हि अत्तनो नाथो कोहि नाथो परो सिया। (धम्मपद)

दूसरे, जब वे पुनर्जन्मका सिद्धान्त मानते हैं तो बिना आत्माके पुनर्जन्म किसका होगा? कहा जा सकता है कि 'संस्कारोंका पुनर्जन्म होगा।' किन्तु आखिर संस्कार भी तो किसी न किसीके आधारपर ही न रहेंगे? जैन-मतमें जैसे पुद्गल आत्मामें चिपके रहते हैं या वैदिक-धर्ममें कर्म आत्मामें संस्काररूपमें रहते हैं और उन्हींके अनुसार पुनर्जन्म होता है, उसी प्रकार बौद्ध-धर्ममें संस्कार आत्माके ही आधारपर रहते हैं।

इसी प्रकार ईसाई और इस्लाम धर्मोंके बारेमें भी लोग सन्देह करते हैं कि उनमें पुनर्जन्म माना गया है या नहीं। एकबार पुनर्जन्मका सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया जाता है तो आत्माके अस्तित्वसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसीका पुनर्जन्म और मृत्यु हो सकती है। इस सम्बन्धमें 'आल्डुअस हक्सले' का यह मत उल्लेखनीय है :

'पूर्व और पश्चिम दोनोंमें इस बातमें मतैक्य है कि इस शरीरमें आत्माको यह अलभ्य अवसर प्राप्त होता है कि वह मोक्ष या मुक्ति पा सके। ईसाई कैथोलिक और महायान बौद्ध मानते हैं कि आत्मा मृत्युके बाद शरीरसे अलग होनेपर कोई गुण-संग्रह नहीं कर पाता। अपने पूर्वकर्मोंका फल स्वर्ग या नरकमें भोगता है। कट्टर-पन्थी कैथोलिक समझते हैं कि दूसरे लोकोंमें प्रगतिकी कोई संभावना नहीं है। आत्माकी प्रगति संसारमें किये कर्मोंपर ही आधृत है। किन्तु पौर्वात्य विद्वान् कहते हैं कि मृत्युके बाद भी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है कि पुण्यवान् आत्माएँ व्यक्तिगत अस्तित्वसे स्वर्गसे लेकर अमरत्व तककी प्राप्ति कर सकते हैं, जिसमें उनकी शाश्वत और कालसे परे ब्रह्म या ईश्वरसे एकरूपता हो जाती है।' (पैरानियल फिलासफी, पृ० २४३)।

'मैडम ब्लैवैट्स्की'के अनुसार यह विश्व उस आदर्श-योजनासे विकसित है, जो सनातनसे अचेतन रूपमें चली आ रही है। उसे वेदान्ती 'परब्रह्म' कहते हैं। यह पश्चिमी तत्त्वज्ञानके ही समान है। उसे 'प्लेटो' गुप्त सनातन और स्वयंभू विचार कहते हैं।' उसीका 'वान हार्टमैन'ने वर्णन किया है। आत्मज्ञानी जिसे सर्वोपरि कहते हैं, उसीको 'हावर्ट इस्पेसर'ने 'अज्ञेय तत्त्व' कहा है। वही अनन्य सनातनशक्ति है, जिससे सब वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं। उसीको 'तथ्यके पीछे शक्ति' कहा गया है। यही मनुष्योंके लिए महान् रहस्य है। सनातन और मध्यकालीन दर्शनमें बहुत कम लोगोंने इस विषयको सुलझानेका प्रयत्न किया है। (दी 'सीक्रेट ड्राक्टीन', पृ० २८१-२८२)

भगवान् बुद्धके लिए 'तथागत' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'माणिक्य-सुत्त'में इसका अर्थ यह बताया गया है कि जो न कहींसे आता है और न कहीं जाता है, उसीको 'तथागत' कहते हैं। तात्पर्य यह कि वह अजर-अमर है। 'पश्चिमी साहित्यमें आत्माके आवागमनके सम्बन्धमें अनेक उल्लेख मिलते हैं। इतालियन कवि दान्तेके प्रसिद्ध महाकाव्य 'दिव्य-संयोग' (डिवाइन कामेडी') में आत्माएँ नरककी यातनाएँ सहनेके बाद एक स्थानपर स्थायी हो जाती हैं। किन्तु कट्टरपन्थी ईसाई इस बातकी संभावना नहीं मानते कि मृत्युके बाद आत्माकी पूर्णताकी ओर कोई प्रगति होती है। कुछ धर्म ईश्वर-कृपामें विश्वास करते अथवा आत्मा-ज्ञानको मानते हैं। दोनोंके अनुसार आत्माके लिए सदैव नरक-निवास असम्भव है। नरकोंमें पापोंका प्रायश्चित्त होनेके बाद आत्मसुधारके लिए जीवोंको दूसरे जन्मका अवसर मिलता है, जिसमें वे अपने मूलाधारसे एकरूप होकर मोक्ष या अमृतत्व प्राप्त कर सकें।

अन्य भी धर्मोंमें अमरताका सिद्धान्त मान्य है। पारसी-धर्ममें ईश्वरके जितने नामोंका वर्णन है, सभी उसके गुणोंके द्योतक है। 'होरमज्द'का अर्थ है, सर्वोपरि ईश्वर और 'अमरदात'का अर्थ है अमरत्व।

कन्फ्यूसियसने, जो कि भगवान् बुद्धके समकालीन थे, चीनमें उपदेश दिया और उनके नामपर 'ताओ-धर्म'का प्रचार हुआ। 'ताओ' ईश्वरका ही एक नाम है। उनके गुणोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसका कोई आदि-अन्त नहीं है। वह नाम और रूपसे परे तथा जन्म और मृत्युसे भी रहित है।

इस्लामके सम्बन्धमें भी लोगोंकी धारणा है कि वह आत्माकी अमरता और पुनर्जन्मको नहीं मानता। उसके अनुसार रूहें कयामतके दिनतक अपनी कब्रोंमें ही कैद रहती हैं और प्रलयके बाद जब खुदाका तूर बजता है, तब वे उठकर उसकी ओर दौड़ती हैं। कयामतके दिनतक रूहोंका यह पड़ा रहना भी तो एक प्रकारकी अमरता ही है। इसके साथ ही कुरानशरीफ़में अन्य धर्मोंके समान बहिश्त और दोजख (स्वर्ग और नरक) का वर्णन मिलता है। बहुत-सी आयतोंमें पुनर्जन्मका भी स्पष्ट उल्लेख है। इसके लिए उसके निम्नलिखित स्थल द्रष्टव्य हैं। पहली संख्या सूराकी और दूसरी आयतोंकी है। ४. २९; १०. ३४; १६. ६५; ७. ९८; २१. १०४; २९. १९-२०; ३७. ११-१८। इन सभीका एक ही स्वर है कि खुदाने रूहको एकबार पैदा किया, इसलिए वह उन्हें बार-बार पैदा करेगा।

सिख-धर्मके सम्बन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं है, क्योंकि वह सनातनधर्मका ही एक अंग है। जिस प्रकार हिन्दुओंको दसों गुरुओंके प्रति आदर है, उसी प्रकार सिखोंको भी हिन्दू-सन्तोंके प्रति सम्मान है। इसी कारण गुरुग्रन्थ-साहबमें गुरुओंकी वाणियोंके साथ सन्त-वाणियोंको भी स्थान दिया गया है। सन्तोंमें कोई भेदभाव न होनेके कारण उसमें शेख फरीदकी वाणी भी संगृहीत है। अमरताके प्रमाणके लिए यह गुरु-मन्त्र ही पर्याप्त है।

एक ओम कर्ता पुरुष अकाल मूरत अजूनि सैयं (अयोनि-संभव, अमर)।
गुरुन प्रसाद आदि सच जुगादि सच नानक होसी भी सच॥

एक दूसरे पदमें कहा है।

आदेशु तिसै आदेशु!
आदि अनील अनाम अनाहति जुग जुग एक वेशु॥

आदि, मध्य और अन्तमें जो सत्य-तत्त्व एकरूप है, वही तो सच्चा अमरत्व है। अन्तमें सूफी मौलाना जलालुद्दीन रूमीकी यह अमरवाणी अमरत्व-सिद्धान्तकी निर्विवादता सिद्ध कर देती है। वे कहते हैं।

'मैं एक धातुके रूपमें मरा और एक पौधा बन गया। पौधा और गुलाबके रूपमें मरा तो एक जानवर बन गया। जानवर होकर मरा तो मनुष्य रूपमें आया। फिर मुझे भय क्या है? मरनेसे क्या मैं कुछ कम हो गया? एकबार फिर मैं मनुष्यरूपमें मरकर स्वर्गीय अप्सराओंके साथ ऊँचा उठूँगा। किन्तु उनका साथ भी मुझे छोड़ना होगा, क्योंकि ईश्वरके सिवा सब नाशवान् हैं। जब मैंने अपनी दिव्यात्माका बलिदान दूंगा, तब वह तत्त्व बन जाऊँगा, जिसे कोई भी सोच नहीं सकता। मेरा अस्तित्व मत रहने दो, क्योंकि अनस्तित्व ही वह पोषण करता है। हम उसीमें वापस जा रहे हैं।'

त्रिलोकीका बेजोड़ आश्चर्य : मथुरा

श्री रघुनाथ प्रसाद चतुर्वेदी, साहित्याचार्य

★

समस्त पौराणिक-साहित्य देखनेपर यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दकन्द व्रजचन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जन्म-स्थली एवं क्रीड़ा-भूमि मथुराका इतिहास अधिक प्राचीन तथा गौरवपूर्ण है। नारद, वाराह, पद्म, ब्रह्म और विष्णुपुराणमें तथा देवी-भागवत और श्रीमद्भागवतमें बड़े ही सुन्दर रूपमें इसका वर्णन है। इन पुराणोंके मथुरा-विषयक वर्णन धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक सभी दृष्टियोंसे अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं।

इस नगरका धार्मिक स्वरूप तो प्रायः इन सभी पुराणोंने चित्रित किया है, किन्तु इसके ऐतिहासिक स्वरूपकी जानकारीके लिए 'देवीभागवत' और 'आदि-पुराण' देखे जा सकते हैं। मथुराका सुन्दर और भव्य भौगोलिक विवरण प्रस्तुत करनेवाले नारद, पद्म, वाराह और विष्णुपुराण हैं। मथुरा-मण्डल (व्रज) और नगर दोनोंकी परिक्रमाओंके वर्णनके साथ पतित-पावनी कलिन्द-कन्या श्री यमुनाजीके तटवर्ती २४ घाटों या तीर्थोंके मध्यस्थित विश्रान्त-तीर्थ और नगर तथा मण्डलके सभी प्राचीन देवस्थलोंका सुन्दर, सुमनोहर वर्णन नारदपुराण और वाराहपुराणमें है।

यहाँके प्रधान वन वृन्दावनका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करनेवाले 'नारद' और 'पद्म' पुराण हैं तथा गिरिवर गोवर्धनका प्रचुर एवं सुन्दर वर्णन 'वाराह-पुराण'में हुआ है। इसी तरह पतित-पावनी कलिन्दनन्दिनी श्री यमुना तथा उसके माहात्म्यका रुचिकर वर्णन अनेक पुराणोंमें उपलब्ध होता है। इस प्रकार पौराणिक साहित्यमें मथुराविषयक वर्णनकी कोई कमी नहीं है।

मथ्यते या जगत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वै।
यत् सारभूतं यद्यत् स्यान्मथुरा सा निगद्यते॥

'गोपाल-तापिनी उपनिषद्'का यह मन्त्र (या पद्य) मथुराके सर्वातिशायी माहात्म्यको प्रकट करता हुआ कहता है कि यह वही मथुरा है, जिसने ब्रह्मविषयक ज्ञानसे समस्त संसारको मथनकर सारभूत अमृत कृष्ण-तत्त्वके रूपमें आविर्भूत किया है। यही कारण है कि सम्प्रदायके एक प्रसिद्ध श्लोकमें इस नगरीको वेदसे भी ऊँचा चढ़ा दिया गया है :

मथुरेति त्रिवर्णीयं त्रयीतोऽपि गरीयसी।
अनुधावति सा ब्रह्म ब्रह्म तामनुधावति॥

अर्थात् 'मथुरा' नामके तीन अक्षर ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली वेदत्रयीसे भी बढ़कर है। कारण वेदत्रयी ब्रह्मका प्रतिपादन या चिन्तन करनेके लिए ब्रह्मकी ओर दौड़ती है, पर यहाँ तो स्वयं ब्रह्म जन्म-ग्रहणके लिए मथुराकी ओर दौड़े आते हैं।

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

इस वचनके अनुसार यद्यपि सातों पुरियाँ मोक्ष-दायिका हैं, फिर भी पद्मपुराणका मथुरा-प्रेम देखते ही बनता है। वह कहता है :

काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या।
या जन्म-मौञ्जीव्रत-मृत्यु-दाहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिम्॥

अर्थात् काशी आदि छह पुरियाँ अपने यहाँ मरण आदि एक-एक ही प्रकार-विशेषसे अपना आश्रय करनेवाले पुरुषको मुक्ति देती हैं। किन्तु मथुरापुरी तो जन्म, मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत), मृत्यु और दाह चारों प्रकारोंसे अपना आश्रय करनेवालोंका मुक्ति बाँटती है।

अहो न जानन्ति नरा दुराशयाः
पुरीं मदीयां परमां पुरातनीम्।
सुरेन्द्र - नागेन्द्र - मुनीन्द्र - संस्तुतां
मनोरमां तां मथुरां सनातनीम्॥

इस पद्यमें तो स्वयं भगवान् श्रीमुखसे बतलाते हैं कि सुरेन्द्र, नागेन्द्र और मुनीन्द्रों द्वारा प्रशंसित पुरातनी, सनातनी और मनोरमा मेरी मथुरापुरीको न जाननेवाले पुरुष दुराशय या दूषित अभिप्रायवाले हैं।

महामहिमशालिनी इस मथुरापुरीको प्राप्तकर यदि सामान्य व्यक्ति इसकी महत्तावश अपने आपको भूल जायें तो क्या कहना, जब कि इसे पानेवाले तीनों गुणोंके अवतार स्वयं त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, शंकर भी अपने आपको भूलकर अपने स्वभावसे विरुद्ध कार्य करने लगते हैं।

अजन्मा यज्जातः सजनिरजनित्वं च भजते
कपाली पालोऽस्या सकलजगदेकाहतिकरः।
सहस्रं वत्सानामपहरति धाताऽत्र जगताम्,
अहो कां कां शङ्कां विरचति विचित्रा मधुपुरी॥

अर्थात् जिस परब्रह्म परमात्मा नारायणको वेदादिशास्त्र अजन्मा या जन्मादि-विकारोंसे रहित बतलाते हैं, वे यहाँ स्वयं श्रीकृष्णके रूपमें नन्द-यशोदाके घर जन्म धारण करते हैं। विनाशके देवता भगवान् शंकर अपना तृतीय नेत्र खोलकर संसारको अपने उदरस्थ करते हैं, पर वे भी यहाँ आकर 'भूतेश्वर' शिवके रूपमें मथुराके रक्षक बन जाते हैं। जगत्के सृष्टिकर्ता देव ब्रह्मा भी यहाँ आकर ग्वाल-बालोंके बीच एक दूसरेसे नाना पदार्थोंको छीन-झपटकर खाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णको देख उनका वास्तविक स्वरूप भुलाकर उनके गाय-बछड़ों तथा ग्वाल-बालोंके अपहरण (चोरी) में प्रवृत्त हो जाते हैं। अहो प्रत्येक द्रष्टा-ज्ञाताके अन्तरमें इस विचित्र मथुरा-पुरीके विषयमें जाने कैसी-कैसी शङ्काएँ होने लगती हैं।

मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः।

विश्व-पति

अलकें तुम्हारी से यामिनी सजाती तन
आभा मुख मंजु की प्रभात भर लाया है।
हिमता हिमांशु ने सुदीप्ति को दिवाकर ने
सुमन - समूह ने तुम्ही से हास पाया है।
स्वाँस ले चली है यह समीर इठलाती - सी
चेतना ने आहत तुम्हारा नित्य पाया है।
व्यर्थ खोजते हैं हम तुमको तुम्ही में, तुम
विश्व में समाये विश्व तुममें समाया है॥

ऊँचे हैं पहाड़ नहीं, उमरे उसीके हाड़
नदियाँ धमनियाँ, प्रवाहित रक्त, नीर है।
बिखर पड़े हैं कच कुंचित, नहीं है नभ
रवि - शशि दृग, नभ-गंगा सिर - चीतर है।
पादप ये नहीं हैं, रोम-राजि लहराती है
स्वाँस चलती है, कौन कहता समीर है।
अग्नि यह नहीं, जठदाग्नि है उसीकी चारु
विश्व यह नहीं, विश्व-पति का शरीर है॥

—श्री रामेश्वर दयाल दुवे

श्रीमद्भागवतके इस वचनसे मथुरापुरीमें भगवान्‌के नित्य-निवासकी सत्ता सिद्ध होती है। नहि मथुरासमं तीर्थम् वाराहपुराणके इस वचनसे इसका तीर्थान्तरोंसे व्यतिरेक और वैचित्र्य सूचित होता है। निम्नलिखित छप्पयमें एक अज्ञातनामा प्राचीन कवि यही कहता है :

सप्तपुरी - भुअ - मध्य आदि 'मथुरा' पटरानी।
षट् मिलि सेवा करैं जीव यह निश्चय जानी।
त्रिकुटी लिये 'अवन्ति' चौंर लिये माया झंपै।
छत्र 'काञ्ची' लिये निकट ह्वै थर-थर कंपै।
'काशी' जु चरनपादुका लिये लै जु मुकुर आगे धरै।
कर जोर 'अवध' रही प्रीत सों 'द्वारावति' अस्तुत करै॥

यह सब देख बरबस मुँहसे निकल पड़ता है कि सचमुच मथुरा त्रिलोकीका एक बेजोड़ आश्चर्य है!

●

एक ऐतिहासिक कथा

मलयपुरकी चरिाडका !

श्री दयाशंकर मिश्र

★

'कुँवर !' हाँ माँ !' 'सुना तुमने ?' 'नहीं तो माँ !' 'तुम्हारे देशपर मौनसोंका आक्रमण हो रहा है बेटा !' 'मौनस आक्रमण करेंगे तो मैं और भइया दोनों मिलकर उन्हें मार भगायेंगे।' 'सच बेटा ?' 'तो क्या तुम्हें इसमें शक है माँ ?' 'नहीं बेटा ! मुझे बड़े कुँवरपर चाहे शक हो, पर तुमपर नहीं'—कहते हुए रानी केतकी कुँवरिने व्रजेशको गोदीमें भर लिया।

ठीक इसी समय रानी केतकी कुँवरिकी छोटी सौतरानी हेम कुँवर व्रजेशके बड़े भाई गोपेशको मिठाई खिला टीका देती हुई बोली : 'बेटा, तुम राजकाज सँभालो, अपने छोटे भाईको सेनानायक बनकर लड़नेको जाने दो।'

'नहीं माँ ! ऐसा नहीं हो सकता, मेरे जीते जी व्रजेश लड़ाईके मैदानमें नहीं जायगा। तुम हो, बड़ी माँ हैं, आप लोगोंका जी कौन बहलायेगा ?'

माँ बोली : 'ऐसा नहीं हो सकता बेटा ! छोटा भाई घरपर रंगरेलियाँ मनाये और बड़ा लड़ाईके मैदानमें जाय ? भला मैं वीर-माताओंमें बैठने लायक रहूँगी ? दुनिया यही कहेगी कि हेमाका बेटा मेहरा निकला। ना-ना, ऐसा कभी न होगा ! तुम राजा हो, देशका शासन करो। व्रजेश सेवक है। वह लड़ाईपर जायगा। देश और राजके लिए लड़ना हरएकका धर्म है बेटा !'

'माँ, यह तुम क्या कह रही हो ? मैं ऐसा कायर राजा नहीं, जो आप तो महलोंमें रहूँ और अपने आदमियोंको अस्त्रोंकी भूख मिटानेके लिए लड़ाईमें भेज दूँ। मुझसे ऐसा कभी न होगा। मैं राजा हूँ न माँ ?'

'हाँ बेटा, तू राजा है।'

'फिर राजाका हुक्म सबको मानना चाहिए न माँ ?'

'हाँ, बेटा !'

'तो मैं राजाकी हैसियतसे हुक्म देता हूँ कि कलसे व्रजेश मलयपुरका हाकिम हुआ और मैं लड़ाईमें जाऊँगा।'

'महाराज !'—हेम कुँवरिकी आँखोंमें आँसू छलछला आये।

'क्या हो रहा है हेमा ?'—पूछते हुए रानी केतकी कुँवरि भी वहाँ आ पहुँची।

हेम कुँवरिने भरे कण्ठसे राज्यके अधिपति महाराज गोपेशका हुक्म दुहरा दिया।

रानी केतकी कुंवरि हँसती हुई आँखोंसे पुत्रको देख निहाल हो बोली : 'बेटा ! तुमने राजोचित निश्चय किया है। यही अपने देशकी परम्परा है। राजा होकर जो अपने तनका मोह करे, अपने सुखके लिए अपने आदमियोंको कालके गालमें झोंक दे, वह राजा नहीं बेटा। तुम निश्चय ही विजयी होगे। मलयपुरपर मौनसोंका कभी अधिकार न होगा। मेरे हजार-हजार आशीष तेरे साथ हैं।'

× × ×

मलयपुरके पूर्व-नरेश महाराजा घनेशको दो रानियां थीं। बड़ीका नाम था, केतकी कुंवरि और छोटीका हेम कुंवरि, पर दोनों सगी बहनसे भी बढ़कर आपसमें प्रेमके साथ रहती थीं। गद्दीके वारिस केतकीके पुत्र गोपेश थे। पर उन्हें जितना उनकी छोटी मां मानती थी, उतना बड़ी नहीं। बड़ी अपनी सौतके पुत्र व्रजेशको अपना उदरज पुत्र समझती थी। जबसे राजका प्रबन्ध गोपेशके सिर आ पड़ा, मलयपुरके पूर्वमें बसी खूंख्वार मौनस जातिकी जबानसे लार टपकने लगी। परिणामस्वरूप कुछ ही दिनों बाद मौनसोंकी एक बहुत बड़ी सेना मलय-पुरकी आजादी छीननेके लिए आगे बढ़ी।

दुनियाके चित्रपटपर दो चित्र सदा मौजूद रहते हैं और रहेंगे—एक प्रेम और दूसरा युद्ध। दोनों दुनियाके पर्देपर हमेशा रहते आये हैं। ये कभी नहीं मिटते। यदि मिट जायें, तो यह दुनिया आदमियोंके रहने योग्य ही न रह जाय। वीर-जीवनकी दो ही प्रधान घटनाएँ मानी गयी हैं। प्रथम, किसी नवोढ़ाकी मृदुहास-भरी चितवनसे घायल होना और द्वितीय, अपने प्रति-द्वन्द्वीको अपने वारका शिकार बनाना।

× × ×

जिस समय मलयपुरके पूर्वी छोरपर घनघोर युद्ध हो रहा था, आदमी आदमीको खा रहा था, अनेक स्त्रियाँ विधवा बनायी जा रही थीं, अनेक बच्चे मां-बापसे बिछुड़ रहे थे, हरे-भरे खेतोंमें आग लगायी जा रही थी, बड़ी-बड़ी रचनाएँ क्षणमात्रमें नष्ट हो रही थीं, व्रजेश फौजें तैयार कर रहे थे। नगरोंसे काफी सेना तैयार हो चुकी थी। इसलिए वे देहातमें जवानोंको निमन्त्रण देनेके लिए एक छोटी-सी टुकड़ीके साथ रवाना हुए।

राजधानीसे कई मीलकी दूरीपर उनका पहला पड़ाव पड़ा। तम्बू तन गया। सारे देहातमें शोर हो गया—'छोटे राजा भी आये हैं। लड़ाईकी भरती शुरू है।'

गाँवके गाँव उमड़ पड़े, उनका दर्शन करनेको। दूसरे दिन सुबहका वक्त था। साधारण सैनिक वेषमें एक युवक रतनपुरके हरे-भरे खेतोंमें टहल रहा था।

वह सिरपर मटका रखे चली जा रही थी, अपने खेतोंकी ओर। दोनों ओर खेतोंके बीचसे होकर निकले पतले रास्तेसे केवल एक ही पथिक आसानीसे गुजर सकता था। वह सैनिकके बहुत पास आकर बोली : रास्ता छोड़ दो, मैं निकल जाऊँ।'

सहसा सैनिकने पीछे देखा और देखता ही रह गया। निष्कपट यौवनकी पहली प्यालीके नशेमें चूर, लाल-लाल गेहूँके दानेके रस जैसा रंग और ऊषाकी शोभा जैसी लुनाई लिये उस हृष्ट-पुष्ट युवतीको वह सैनिक बड़ी देरतक जहाँका तहाँ खड़ा देखता ही रह गया।

सहसा उसकी आंखोंमें ज्वाला जल उठी और तमतमाकर बोली : 'मुझे क्या देखता है रे ! तू सैनिक है न ? फिर औरतोंकी ओर घूरता है ? तेरे जैसे मेहरे सैनिकोंसे भला मलयपुरको विजय मिल सकती है ?'

उसकी तैश-भरी बोली सुन युवक कुछ गम्भीर हो उठा, पर वह रास्तेसे हटा नहीं।

तब वह कड़ककर बोली। 'हटता है या नहीं !' उसने अपने बाँये कन्धेसे जो एक धक्का दिया, तो वह खेतमें गिरते-गिरते बचा।

युवती निकल गयी ! युवक उसे अपनी आँखोंमें बन्द किये न जाने कबतक खड़ा रहा।

× × ×

उसी दुपहरीको छोटे राजाजीके खेमेके बाहर सहस्रों हृष्ट-पुष्ट नवयुवकोंकी ही नहीं, कुछ युवतियोंकी भी भीड़ इकट्ठी थी।

एकाएक उस भारी भीड़को चीरती एक युवती सिरपर मटका रखे छोटे राजाजीके खेमेके पास आ खड़ी हुई। सन्तरीने पूछा : 'तेरेको क्या चाहिए ?'

'छोटे राजाजीके पास जाऊँगी।'

'क्यों ?'

'उनके लिए जलपान ले आयी हूँ।'

'तेरा जलपान वे न करेंगे। जा, भाग यहाँसे।'

'न करेंगे। क्यों ? यह तो उनके देशकी जल-मिट्टीसे बना पदार्थ है। मैं हाथ जोड़ती हूँ, मुझे जाने दो।'

'महज जलपान देना है या और कुछ ?'

'मुझे सिपाही भी बनना है।'

'सिपाही बनना है !'—सिपाही उस युवतीकी ओर आँखें फाड़कर देखने लगा। फिर बोला। 'तुमने अपने माँ-बापसे पूछ लिया है ?'

'हाँ, पूछ लिया है।'

'माँने क्या कहा ?'

'माँ बोली : 'धन्य हूँ बेटी, जो तुझ जैसी पुत्रीकी माँ बनी। यदि मेरे कोई पुत्र होता तो कमीकी उसे मैं लड़ाईपर भेज दिये होती। जा, आजसे तू मेरी बेटी नहीं, बेटा है।'

सिपाही गद्गद हो उठा। युवती आगे कहने लगी : 'माँने मुझे यह तलवार दी और यह जिरह-बख्तर, और बोली—'जा बेटी, मलयपुरके लिए चण्डिका बन !'

सन्तरीकी आँखें डबडबा उठीं। वह बोला : 'जा बेटी, छोटे राजाजी भीतर हैं।'

युवती सिरका मटका उतार कमरपर रख भीतर घुसी, तो उसको काठ मार गया। सामने ऊँचेसे बेंचपर बैठे व्यक्तिको देखकर वह बोली : 'तुम सिपाही और छोटे राजाजी ?'

'हाँ, ! वीराङ्गने मैं सिपाही हूँ।'

'और छोटे राजाजी ?'

'मैं ही हूँ।'

'महाराज, क्षमा चाहती हूँ'—युवती बोली।

'क्षमाकी क्या बात है देवि ! बोलो, कैसे आयीं ?'

'महाराजके लिए पकवान लायी हूँ। महाराज जिस गाँवमें उतरे हैं, मेरा ही है। आज आप हमारे अतिथि हैं।'

'पर मैं एक शर्तपर जलपान करूँगा देवि !'

'कौन-सी शर्त ?'

'इस गाँवसे मुझे कुछ युवक मिलें, जो सेनामें भर्ती हो सकें।'

'युवकोंकी जगह युवतियोंसे काम न चलेगा महाराज ?'

'मगर।'

'नहीं महाराज, आप विश्वास रखेंगे, हमारी सेवा भी बड़े कामकी सिद्ध हो सकती है। एकबार हमें भेजकर तो देख लें। मेरे गाँवकी दस-बारह लड़कियाँ अस्त्र-शस्त्रोंसे सज-धजकर आज ही रातको मैदानकी ओर रवाना होनेको तैयार हैं। बस, आज्ञा चाहिए।'

'तुम किस तरह लड़ोगी देवि !'

युवती छोटे राजाके अत्यन्त निकट जा धीरेसे कुछ बोली।

'लेकिन यह मार्ग खतरेका है देवि !'

'पर देशके लिए खतरा तो उठाना ही पड़ेगा।'

'इस खतरेमें यदि तुम्हारा सतीत्व नष्ट हो गया तो ?'

'पहले तो नष्ट ही न होगा, और यदि बलपूर्वक नष्ट भी किया गया, तो जहाँ सारे देशकी आजादीका प्रश्न है, वहाँ दो-चार युवतियोंके स्त्रीत्वका मूल्य ही क्या है महाराज ? और यदि आज हम दो-चार युवतियाँ अपनी लाज बचानेको घरमें बैठी ही रहें, तो कल जब गाँव-गाँवमें आततायी मौनस हर युवतीका सतीत्व छीननेको पागल हो घूमते दीख पड़ेंगे, तब ?'

व्रजेश उस निर्भीक एवं बुद्धिमती युवतीकी ओर देखकर पूछ बैठे : 'तुम्हारा नाम ?'

'मेरा नाम सरोज कुँवरि है।'

'सरोज, तुमपर मेरे देशको गर्व है ! ले आओ अपना पकवान !'

सरोजने पकवान सामने रख दिया। व्रजेशको वह पकवान बड़ा मीठा लगा और उससे मीठी लगी सरोजकी साहसभरी बातें।

व्रजेशने अपनी अंगूठी सरोजको देते हुए कहा : 'तुम्हारी योजना सफल हो, देवि !'

× × ×

विशाल मौनस-सेनाके मुकाबिलेमें मलयपुरकी सेना ठहर नहीं पाती थी ।

किलेपर किले मलयपुरवालोंके हाथसे निकलते जा रहे थे । राजधानी महज दस मील रह गयी । पद्मगढ़के किलेके घिरनेमें कुछ बाकी न था । राजधानी भी खाली कर दी गयी । पद्मगढ़का किला छोड़कर मलयपुरकी सेना पीछे हट गयी ।

विजयके उल्लासमें मत्त मौनस-सेना बढ़ती चली जा रही थी । पद्मगढ़के किलेसे कुछ दूरपर गाँवकी कुछ स्त्रियाँ पनघटसे पानी लिये गाँवकी ओर जा रही थीं । उनपर कुछ सैनिकोंकी निगाहें पड़ीं और तभी कुछ सिपाही उनपर टूट पड़े ।

× × ×

रात्रिकी घोर नीरवता थी । पद्मगढ़के विशाल किलेमें मौनस-सेना द्वारा जीतकी खुशियाँ मनायी जा रही थीं । तरह-तरहके खेलकूद और तमाशे हो रहे थे । बड़े-बड़े सेनापति शराबके नशेमें चूर हो मदोन्मत्त हो रहे थे ।

आधी रातके बाद आम जलसा खतम हुआ और खासकी बारी आयी । किलेके एक भीतरी कमरेमें रोशनी जगमगा रही थी । एकाएक सीटी बजी । नाटचभवनमें सजे मंचका पर्दा उठा और कई लड़कियाँ स्टेजपर खड़ी दीख पड़ीं । उनकी बगलमें एक अत्यन्त भयंकर सिपाही हाथमें कोड़ा लिये खड़ा था ।

कुछ चुने अफसरोंके साथ मौनस-सेनाके प्रधान नायक योशोयामाने उस कमरेमें प्रवेश किया । उसे देखते ही वह सिपाही हट गया । थोड़ी देर बाद कई तश्तरियोंमें शराब लिये पहुँचा । बलपूर्वक उन लड़कियोंको शराब पिलायी गयी । उसके बाद उनके एक-एक वस्त्र हटाये गये और उन्हें नाचनेको कहा गया ।

पहले तो वे लड़कियाँ कुछ आनाकानी करने लगीं, पर बादमें खुशीसे नाचने लगीं । नाचते-नाचते उन्होंने इन अफसरोंको मोह लिया । वे मूर्तिवत् उनकी ओर प्यासी आँखोंसे देखने लगे । सहसा उनमेंसे सबसे अच्छी नाचनेवालीने संकेत किया और तब सभी युवतियाँ अफसरोंके पास थिरकती पहुँच गयीं और उन्होंने उनकी कमरोंमें हाथ डाल उनकी आँखोंके पास अपने अधर कर दिये ।

दूसरे ही क्षण वे उनसे फिर अलग हो गयीं । अफसर भौचक्केसे उन्हें देखने लगे । इस तरह दो-तीन बार करनेके बाद उन्होंने अपने-अपने अफसरोंको शराब देना शुरू किया । हर लहरेपर उन्हें एक-एक प्याली भरके पिला जातीं, उनके अधरोंके पास अपने अधर पहुँचा वापस चली आतीं ।

जिस वक्त रातको दोका घण्टा बजा, सैनिक अचेत हो इन युवतियोंके बाहुपाशमें आबद्ध पड़ गये ।

दूसरे क्षण किलेके ऊँचे कंगूरेपर किसीने लाल बत्ती जला दी। एक घड़ीतक चारों ओर अमावास्याकी रात्रिकी तरह भयंकर कालिमापूर्ण नीरवताका साम्राज्य छाया रहा।

दूसरे क्षण तोपोंकी गड़गड़ाहटसे सारा वायुमण्डल गूँज उठा।

× × ×

इस अकारण जीतका यदि किसीको पता था, तो वह व्रजेशको। दुनिया जीतकी खुशी मना रही थी, पर उनकी प्यासी आँखें किलेके मैदानमें घायलोंके बीच किलेके आस-पास चारों ओर व्याकुल हो किसीको खोज रही थीं।

तभी एक सिपाहीने आकर धीरेसे उनके कानमें कुछ कहा। वे घबराये-से सिपाहीके साथ एक ओरको बढ़े। देखा, किलेके चारों दरवाजेके पास कुछ लाशें लुढ़की पड़ी हैं। व्रजेश उन लाशोंके बिलकुल पास चले गये। तभी एक लाशके पास वे चीत्कार मारकर गिर पड़े।

× × ×

मलयपुरकी राजधानी सिंहपुरके पूर्वी द्वारपर आपको एक जगह लगभग एक दर्जन मन्दिर दीख पड़ेंगे। सबके बीच भव्यतम बने मन्दिरमें सरोज कुँवरीकी मूर्ति स्थापित है। वह 'मलयपुरकी' देवीके रूपमें पूजी जाती है।

●

प्रेमके भूखे भगवान्!

कर्माबाई भगवान् पंढरीनाथको पुत्रभावसे पूजतीं और प्रेम करतीं। वे प्रातःकाल उठकर बिना स्नान किये ही खीर बनातीं और भगवान्का बालभोग इस भावसे लगातीं कि भगवान्को शय्यासे उठते ही भूख लगती है।

एक दिन एक शास्त्रीजीने कहा : 'वाह' कर्माबाई! भगवान्का भोग नहा-धोकर लगाना चाहिए या बिना स्नान किये?'

कर्मांबाईने उस दिन स्नान करके ही भोग लगाया। रातमें उन्होंने स्वप्नमें देखा—भगवान् पंढरीनाथ खड़े-खड़े भूख-भूख चिल्ला रहे हैं।

कर्माबाईने पूछा : 'क्या आज खीर नहीं खायी?' भगवान् बोले : माँ! खीर तो मैंने खा ली, पर आज तेरा वह प्रेम, वह भावना नहीं मिली, जो मिला करती थी।'

कर्माबाई उसी दिनसे फिर बिना नहाये ही भोग चढ़ाने लगी।

●

कालिदास-जयन्तीका सरस उपहार

विश्वकवि कालिदासका काव्य-कौशल

डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर

महाकवि कालिदासकी काव्य-सृष्टि मानो कल्पना-शक्तिके विविध विलासोंका मातृसदन है। उसने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभाके बलपर विश्व-साहित्यमें असाधारण स्थान प्राप्त किया है। कविने सर्वत्र वैदर्भी रीतिको अपनाया है। उसका अपना एक विशेष अधिकार उसपर झलकता है : वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।

कोमलकान्त-पदावलीके विन्यासकी मधुरता, अल्प-स्वल्प-समासोंके सन्निवेश तथा कृत्रिमता और क्लिष्टतासे बचनेके कारण उसकी रचनाएँ सरल, सुबोध एवं स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। जैसे ये सब गुण उसके श्रव्य-काव्यमें पाये जाते हैं, वैसे ही दृश्य-काव्यमें भी उपलब्ध होते हैं। दृश्य और श्रव्य उभयविध काव्योंकी रचनाओंपर उसका समान अधिकार परिलक्षित होता है।

इसके अतिरिक्त 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटककी ओर दृष्टिपात करनेपर कविकी कुशलता एक अनुपम छटा लिये देखते ही बनती है।

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला। तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः···

इस नाटकपर ऊपर अंकित सम्मति आजकी नहीं है, अपितु मन्दाकिनीके अविरल प्रवाहकी-सी परम्परया विद्वानोंके कर्ण-पथपर अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित हो रही है। कविकी इस अनुपम कृतिमें उसकी अपनी नाट्यप्रतिमा, कल्पना-विपुलता, भाषाकी कोमलता एवं रसकी परिपक्वता तथा मानव-मनोविकारोंके मार्मिक विश्लेषणकी विलक्षण आश्चर्यंकारिणी क्षमता नितान्त प्राञ्जल एवं विशद रूपसे प्रकट हो रही है। यह नाटक शृंगार-प्रधान होनेपर भी इसमें सभी रसोंकी मार्मिक, मनोहर अभिव्यंजना हुई है। विभिन्न घटनाओंका मेल ऐसी कुशलतासे साधा गया है कि पाठकोंकी उत्सुकता अन्ततक बनाये रखता है। विविध घटनाओंका उत्तरोत्तर विकास बड़ी स्वाभाविकतासे चित्रित किया गया है। प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक प्रसंग अपना उद्देश्य लिये हुए है, एक शब्द भी उसका अनावश्यक या अनुपयुक्त नहीं है। इस नाटकमें सात अंक हैं। भारतीय नाट्यशास्त्रकी परम्पराके अनुसार यह सुखान्त नाटक है। भारतीय तत्त्वोंका यथास्थान समुचित सन्निवेश किया गया है।

शाकुन्तलका आरम्भ राजोचित मृगया-दृश्यसे किया गया है, : कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुकम्। मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम् ॥ आगे चलकर तपोवनका दृश्य कितनी सुन्दरताके साथ कविने चित्रित किया है :

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

तीनों मुनिकन्याओंके आमोद-प्रमोद, सरल स्वभाव एवं कन्यानुरूप शिष्टाचार कविने बड़ी कुशलतासे चित्रित किये हैं। शकुन्तलाके हृदयमें प्रणय-भावनाकी उद्भूतिका चित्रण बड़ी मार्मिकताके साथ किया गया है, जिसका अन्तिम दृश्य वल्कलके उलझनेकी घटनासे दिखाया है; जिससे लाभ उठाकर शकुन्तला राजापर अपनी प्रणयभरी दृष्टि फेंकती हुई साकूत संकेत ही मानो दे रही है।

दूसरे अंकमें प्रणय-परवश हुए राजाके मुखसे प्रथमांकगत शकुन्तलाकी शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाका आभास मिलता है। अपने मित्र माधव्य (विदूषक) से अपनी प्रणय-परवशता प्रकट करता हुआ भी वह उसे गोपनीय रखनेके लिए परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः कह देता है।

तृतीय अंकमें प्रणयपीड़ित शकुन्तलाके तीव्र मनस्तापका परिचय मिलता है। वह अपने प्रियतमके लिए प्रेम-पत्र लिखती है। प्रियतम उपस्थित होकर प्रियतमाको अपना हृदय अर्पित कर देता है। दोनोंके प्रेमका विकास अविच्छिन्न गतिसे अंककी समाप्तितक होता है।

चौथे अंकमें भावी विपत्तिकी सूचना दी जाती है। प्रातःकालके वर्णन में—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरस्सर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥

'रवि और शशिके एक साथ उदय-अस्तके द्वारा सांसारिक प्राणियोंका भाग्य-चक्र ही मानो नियन्त्रित किया जा रहा है।' इससे यह सूचित किया गया कि जीवन या प्रेम केवल आनन्दमय ही नहीं है। पतिगृहमें शकुन्तलाके प्रस्थानका कलात्मक वर्णन तत्कालीन पितृ-हृदयकी स्थितिका भावात्मक चित्रण तथा स्थल-स्थलपर सामाजिक और नैतिक आदर्शोंका निरूपण वास्तवमें अनुपम बन पड़ा है। कण्वकी व्याकुलता, अनुसूया और प्रियंवदाकी आनन्दमें परिणत चिन्ता, कुलपति कण्वका राजाके नाम सन्देश और भावी गृह-लक्ष्मीको उपदेश तथा आश्रमके नीरव वातावरणमें विविध भाव और घटनाएं भावपक्ष तथा कलापक्षको उभयविध सृष्टिसे नितान्त सुन्दर हैं। इस सुन्दरताको देखते प्रतीत होने लगता है कि मानो यह अंक शब्दनिर्मित मानव-हृदय ही हो।

पाँचवें अंकमें शकुन्तलाके प्रत्याख्यानसे नाटकका कथानक अपनी चरम सीमापर पहुँच जाता है। दुर्वासाका शाप कार्यरूपमें परिणत हो जानेसे प्रेमी पति अपनी प्रणयपीड़िता पत्नीको पूर्णतया भूल जाता है। प्रेममें पगी पत्नीने अपनी सारी आशाएँ तपोवनमें उपस्थित हुए राजासे उसके बिदा होते समय प्रेमोपहारमें प्राप्त अंगूठीपर लगा रखी थीं; पर उसकी आशाएँ निष्फल हो जाती हैं। एक ओर पतिकी स्मृति जागरित करानेका शकुन्तलाका करुण प्रयास और दूसरी ओर राजाका राजोचित गर्व तथा निर्मम व्यवहार! उसपर तपस्वियोंका राजाको ओजःपूर्ण उद्बोधन तथा उसकी भर्त्सना। अन्तमें शकुन्तलाको एक दिव्य-ज्योति उठा ले जाती है।

षष्ठ अंकमें अंगूठीकी उपलब्धिसे राजाको सारी स्मृति जाग जाती है। तब अपनी प्रियतमाके पूर्वप्रत्याख्यानजनित मानसिक तापसे राजा सन्तप्त हो उठता है। एक सामुद्रिक वणिक्‌की मृत्यु-घटनासे राजाको पुत्रका अभाव खलने लगता है और प्रेमके अभाव-ज्ञानसे ही प्रियतमाकी प्रत्यभिज्ञा एवं प्रेम जागरित होकर सुदृढ़ होता जाता है।

सप्तम अंकका दृश्य भूतलके उपरिवर्ती लोकोंका है। सात प्रकारके वायुमण्डलोंमें होता हुआ राजा स्वर्गसे वापस आ रहा है। छठे वायु-मण्डलमें मारीच-आश्रमकी अलौकिक पवित्रता और नैसर्गिक सुन्दरताका दर्शन होता है। इसी अवसरपर नाटकीय चरमावस्थाका शनैः-शनैः उद्घाटन होता है। राजाका अपने पुत्र और पत्नीसे मिलन होता है। महर्षि मारीच राजा-रानीको आशीर्वाद देते हैं। इस प्रकार पवित्र और प्रशान्त वातावरणमें नाटक समाप्त होता है।

इस नाटकपर एक सूक्ष्म विहंगम-दृष्टि डालनेपर समझमें आ सकता है कि इन सातों अंकोंमें साम्य-विरोध कैसा सुन्दर दिखाया गया है। उसीको एक समद्विभुज त्रिकोणके द्वारा बतानेकी चेष्टा की जाती है।

इस त्रिकोणकी अंक-संख्या नाटकके अंकोंकी ओर संकेत कर रही है। इस त्रिकोणका शिरोभाग बिन्दु चतुर्थ अंक है। १–७, २–६, ३–५ अंक इस त्रिकोणमें आमने-सामने हैं।

पहले और सातवें अंकमें जैसा साम्य है, वैसा विरोध भी। इस अंकमें जैसे दुष्यन्त और शकुन्तलाका तपोवनमें मिलन होता है, ठीक वैसे ही सातवें अंकमें एक दूसरेका तपोवनमें पुनर्मिलन होता है। प्रथम अंकमें उनका प्रेम राजस है, पर सातवें अंकमें वर्षाऋतुके अनन्तर निर्मल सरिताके समान वही प्रेम-प्रवाह विशुद्ध दृष्टिगोचर होता है। प्रथम अंकमें मुग्धा शकुन्तला सातवें अंकमें वही तपस्विनी शकुन्तला। पहले अंकमें राजा मृगकी मृगया करता हुआ तपोवनमें प्रविष्ट हो रहा है, यह प्रसंग उसके चंचल प्रेमकी सूचना दे रहा है। तो इधर सातवें अंकमें राक्षसों-का वध करके राजा आया है—यह सुनते ही समस्त तामस मनोविकारोंपर उसके विजय पानेकी सूचना मिलती है। प्रथम अंकमें शकुन्तलाको उद्विग्न कर देनेवाला भ्रमर तो सातवें अंकमें सर्वदमन (बालक) को अपनी दन्तावलिकी गणना करा देनेवाला सिंह—यह अन्तर भी रसिकोंके अन्तरंगको रंग देनेमें कम नहीं है।

दूसरे और छठे समांकोंकी तुलना भी इसी प्रकार है। दूसरे अंकमें कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि कहता हुआ राजा मन ही मन आकुल-संकुल हो उद्विग्नताका अनुभव कर रहा है। दोनों अवसरों पर सीधा-सादा विदूषक ही उसका श्रोता दिखाया गया है : इस अंककी समाप्तिमें इष्टि (यज्ञ) की रक्षाके निमित्त आश्रममें राजाका रहना बताया है, तो उधर छठे अंककी समाप्तिमें वह इन्द्रकी सहायताके लिए स्वर्गमें जाता है। ये दोनों प्रसंग शकुन्तलाकी प्राप्तिकी दृष्टिसे समान महत्त्वके हैं।

तीसरे अंकमें जाने तपसो वीर्यं सा वाला परवतीति मे विदितम्। अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं विवर्तयितुम्। 'क्या शकुन्तलाको मैं पा सकूँगा?' आदि बातोंके चिन्तनमें निमग्न रहनेवाला राजा पांचवें अंकमें आश्रय-याचना करती शकुन्तलाको फटकार देता है :

> व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम्।
> कूलङ्कपेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुञ्च॥

इसी अंकमें दिखलाये हुए दोनोंके प्रणयपूर्ण संलापमें और पांचवें अंकमें अंकित किये गये उन्हींके आपसी सम्भाषणमें परिलक्षित होनेवाला विरोध बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। इस प्रकार कविकी उज्ज्वल प्रतिभाका निदर्शन, प्रकृतिके सन्देशका मार्मिक उद्घाटन इस नाटकमें हुआ है। मानवीय भावनाओंको चित्रित करते हुए भी उसका प्रकृतिके साथ मंजुल सम्पर्क स्थापित किया गया है।

प्रथम अंकमें ही नगरके वासनामय विलास और तपोवनके अकृत्रिम वैभवके तारतम्यपर कैसा प्रकाश डाला है :

> शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
> दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥

इन्द्रिय-वासनाकी तात्कालिक उमंग शान्त होते ही हम प्राकृतिक और आध्यात्मिक सौन्दर्यके उत्तुङ्ग शिखरपर आरूढ़ हो जाते हैं। भूलोक और स्वर्गलोकके मध्यस्थानीय हेमकूट पर्वतपर महर्षि मारीचके पावन तपोवनमें न केवल प्रेमियोंका पुनर्मिलन होता है, अपितु अन्तर्बाह्य प्रकृतिके चिरन्तन संयोगको पुनः प्रतिष्ठा भी होती है।

इस महाकवि की कृतियोंमें प्रत्येक स्थलपर कलाजन्य सौन्दर्यका बड़ा हो समुज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया गया है। जो लोग कालिदासकी कृतियोंमें भ्रमवश केवल वासनामय शृङ्गारका दर्शन करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे कविके सूक्ष्म संकेतोंको भी समझनेका सत्प्रयास प्रयत्न करें :

> मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
> न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥

इस पद्यमें कविने उच्च आदर्शकी मार्मिक व्यञ्जना की है। शकुन्तलाके रूपवर्णनके व्याजसे कविने प्रकारान्तरसे यह बताया है कि कलात्मक सौन्दर्यकी सृष्टि सर्वथा अलौकिक

है, इस रजोमयी पार्थिव पृष्ठभूमिसे परे है—वासनामय धरातलसे उच्चतर है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि कलाजन्य आनन्दकी अनुभूति तर्कबुद्धि द्वारा कभी सम्भव नहीं।

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥

इसमें कविने एक मार्मिक सिद्धान्तकी ओर बड़ी सूक्ष्मताके साथ संकेत किया है। जीवन-मधुका लाभ अर्थात् कलाजन्य आनन्दकी उपलब्धि तत्त्वान्वेषण-बुद्धि द्वारा अर्थात् तर्ककी विश्लेषणात्मक पद्धतिसे कभी सम्भव नहीं। उस मधुके आस्वादनके लिए आवश्यकता है, उस सहृदयताकी अर्थात् भावप्रवणताकी, जो कला-सुन्दरीके चञ्चल अथच प्रतिक्षण परिवर्तमान कटाक्ष-कोरोंको छू सके, उसके मार्मिक रहस्यका उद्घाटन कर सके, उसके रतिसर्वस्व अर्थात् रसका आस्वादन ले सके।

कालिदासकी कृतियोंमें सर्वत्र अत्यन्त उदात्त नैतिकता, उदारता, भारतीय मर्यादाकी आदर्शोन्मुखताका चित्रण पाया जाता है। यह बात विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः कालिदासकी उक्ति और 'O opportunity thy guilt is great ? शेक्सपियरकी उक्तिकी तुलनासे ही स्पष्ट हो जाती है। भारतकी नैतिक एवं कलात्मक संस्कृतिका जो चित्रण कालिदासने अपनी रचनाओंमें किया है, वह मानो समस्त संसारके लिए आदर्शभूत मानदण्ड है। स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।

●

सुखकी सच्ची साधना

दुनियामें सभी दुःखी हैं। कुछ अपने दुःखसे और कुछ दूसरोंके दुःखसे। किन्तु यदि तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो अपने अभाव और कष्टोंसे दुखी होनेवाला ही दुःखी है, दूसरोंके दुःखसे दुःखी होनेवाला नहीं। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेवालेमें एक आत्मसुख होता है, एक मार्मिक अनुभूति रहती है। उसकी आहोंसे हरा-भरा सावन और आँसुओं में शीतल गङ्गा लहराती है। स्वार्थजन्य दुःख यदि विषैले कांटे हैं तो परार्थ-जन्य दुःख सुविकसित सुमन। जिस प्रकार एक छोटी-सी बातसे हटकर किसी बड़ी बातकी ओर ध्यान चले जानेसे छोटो बात भूल जाती है, उसी प्रकार जब मनुष्यकी निजी दुःखानुभूति पर-दुःखानुभाविका बन जाती है, तब उसके नारकीय पीड़ा देनेवाले सारे दुःखोंका तिरोधान हो जाता हैं। अपनेसे निकल कर औरोंकी ओर बढ़ना ही सुखकी सबसे सरल एवं सच्ची साधना है।

●

जागो अजर जवानी !

जयनाद गूँज जाये, जागो अजर जवानी
जागो जयन्तिका जय विजये शिवा भवानी

हम दीन-हीन जनकी सुन लो करुण-कहानी
ज्वाला जगी हुई है, जागो अथाह पानी

दुर्दान्त दानवोंका साम्राज्य हो गया है
मानव-समाज मर्दित सब तेज खो गया है

बन वाम दैव भी तो विषबीज बो गया है
दुर्दिन घुमड़ रहा है सौभाग्य सो गया है

विस्फोट हो गया है ज्वालामुखी नगोंका
दुर्लंघ्य बन रहा है जो मार्ग कुछ डगोंका

अब हा सुना न जाता स्वर 'त्राहि रे' सगोंका
बस शेष है भरोसा अशरण शरण पगोंका

विध्वंसमें पगी ओ ! आँधी हहर पड़ो तुम
कल्पान्त नीरनिधिकी रानी लहर पड़ो तुम

अरिवृन्द दैत्यदलपर बनकर कहर पड़ो तुम
हे शब्द - सिंह-वाहिनि वाणी घहर पड़ो तुम

देवी प्रसीद वर दो, शवमें शिवत्व भर दो
करुणा-कटाक्षवाली अमरत्व-दान कर दो

जीवन-नदी बहे हँस जागो अथक रवानी
जयनाद गूँज जाये जागो अजर जवानी !

—श्री कमलाप्रसाद अवस्थी 'अशोक'

ऐतिहासिक विश्लेषण

धर्मोपासना और भक्तिके क्षेत्रमें राधाजीकी प्रतिष्ठा

श्री प्रभुदयाल मीतल

★

: २ :

चैतन्यदेवमें राधा-भावका विशेष रूपसे प्रकाश उनकी दक्षिण-यात्रामें राय रामानन्दके साथ तत्त्व-चिन्तन करनेके उपरान्त हुआ था। चैतन्य-सम्प्रदायमें राधा-तत्त्वको दार्शनिक आधारपर प्रतिष्ठित करनेका श्रेय गौड़ीय गोस्वामियों द्वारा व्रजमें रचे ग्रन्थोंको है। उक्त गोस्वामियोंमें अन्यतम श्री जीव गोस्वामीकृत 'षट्-संदर्भ'में राधा-तत्त्वका सर्वाधिक सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है। किन्तु इन ग्रन्थोंकी रचनामें दाक्षिणात्य गोपालभट्ट गोस्वामीका सहयोग प्रसिद्ध है। इस प्रकार चैतन्य-सम्प्रदायका राधावाद दक्षिणकी विचारधारासे अनुप्राणित कहा जा सकता है; किन्तु वह बङ्गाल-उड़ीसामें व्याप्त शक्तिवादसे भी प्रभावित है।

कृष्णदास कविराजने चैतन्य-सम्प्रदायमें स्वीकृत राधा-तत्त्वका विस्तारपूर्वक कथन किया है। उनका मत है : 'सच्चिदानन्द परब्रह्म कृष्णकी ह्लादिनी शक्तिका सार 'प्रेम' है, प्रेमका सार 'भाव' है और भावकी पराकाष्ठा 'महाभाव' है। महाभावस्वरूपा 'श्रीराधा' ठकुरानी हैं, जो समस्त गुणोंकी खान और कृष्णकान्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका चित्त, उनकी इन्द्रियाँ और काया सभी कृष्ण-प्रेमसे भरपूर है। वे कृष्णकी निजशक्ति और उनकी क्रीड़ाओंमें सहायक हैं। राधा पूर्णशक्ति हैं और कृष्ण पूर्णशक्तिमान् हैं। इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है, यह शास्त्रोंसे प्रमाणित है। राधा-कृष्ण सदैव एकस्वरूप हैं। वे लीला-रसके आस्वादनके लिए दो रूप धारण किये हुए हैं।

ह्लादिनी-सार 'प्रेम' प्रेम-सार 'भाव'। भावेर परमकाष्ठा नाम 'महाभाव' ॥
महाभाव-स्वरूपा 'श्रीराधा' ठाकुराणी। सर्वगुण-खानि कृष्ण-कान्ता शिरोमणि ॥
कृष्ण-प्रेम-भावित यार चित्तेन्द्रिय काय। कृष्ण-निजशक्ति राधा-क्रीड़ार सहाय ॥
राधा पूर्ण शक्ति, कृष्ण पूर्ण शक्तिमान। दुइ वस्तु भेद नांहि शास्त्र-प्रमाण ॥
राधा-कृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप। लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप ॥

(श्री चैतन्य-चरितामृत, आदिलीला, ४.५९, ६०, ६१, ८३, ८५)

चैतन्य-सम्प्रदायी भक्तों द्वारा व्रज-वृन्दावनमें राधा-तत्त्व प्रचारित किये जानेपर भी यहाँके मन्दिरोंमें पहले श्रीकृष्णके विग्रहके साथ राधाजीकी मूर्ति प्रतिष्ठित नहीं की गयी थी। राधाजीकी उपासनापर अधिक बल देनेवाले सम्प्रदायोंमें भी राधाकी मूर्तिकी अपेक्षा उनकी गादी रखी जाती थी। चैतन्य-सम्प्रदायी ग्रन्थ 'प्रेम-विलास' और 'भक्ति-रत्नाकर'से ज्ञात

होता है कि जब श्री नित्यानन्दजीकी पत्नी श्रीमती जाह्नवीदेवी वृन्दावन आयी थीं, तब उन्होंने यहाँके मन्दिरोंमें कृष्णके साथ राधाजीकी मूर्ति कहीं नहीं देखी। वृन्दावनसे बङ्गाल वापस जानेपर उन्होंने नयनभास्कर नामक कलाकारसे राधाजीकी कतिपय मूर्तियाँ बनवायीं और उन्हें वृन्दावन भेजा। जीव गोस्वामीजीने उन मूर्तियोंको श्रीकृष्णके पार्श्वमें प्रतिष्ठित कराया। तबसे यहाँ श्री राधाजीकी मूर्तिकी सेवा-पूजा होने लगी।

श्री वल्लभाचार्यने अपने 'भक्ति-सिद्धान्त'में सच्चिदानन्द परब्रह्म श्रीकृष्णको परमाराध्य एवं परमोपास्य माना है और एकमात्र उन्हींको केन्द्रविन्दु बनाकर अपने साम्प्रदायिक वृत्तका निर्माण किया है। कुछ लोगोंका कथन है कि उन्होंने राधा-तत्त्वको मान्यता प्रदान नहीं की और एकमात्र वात्सल्य-भक्तिका उपदेश दिया। श्री वल्लभाचार्यजीके पश्चात् उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजीके कालमें इस सम्प्रदायमें माधुर्य-भक्तिको महत्त्व दिया गया और तभी राधा-तत्त्वको भी मान्यता प्राप्त हुई। निस्सन्देह श्री वल्लभाचार्यजीने पुष्टि-सम्प्रदायमें भगवान् कृष्णकी अतिशय महत्ता स्वीकृत की है, किन्तु उनके विवेचनमें राधाके विषयमें कोई विचार या उल्लेख नहीं मिलता, यह ठीक नहीं है। उन्होंने विविध स्तोत्रोंमें कृष्णके साथ राधाका जिस प्रकार स्मरण किया है, उससे स्पष्ट होता है कि उनकी राधासम्बन्धी मान्यता भी प्रायः अन्य सम्प्रदायाचार्योंके सदृश ही है। उनके 'पुरुषोत्तम-सहस्रनाम'में रसरूप कृष्णका स्मरण माधुर्यमूर्ति राधाके साथ 'राधाविशेषसम्भोगप्राप्तदोषनिवारकः'के नामसे किया गया है। आचार्यश्रीके नामसे प्रसिद्ध 'श्रीकृष्ण-प्रेमामृत' स्तोत्रके 'राधावरुन्धनरतः', 'राधासर्वस्व-सम्पुटः', 'राधिकारतिलम्पटः' आदि सरस विशेषणोंसे तथा 'श्रीकृष्णाष्टकम्'के 'श्रीराधिका-रमणः', 'राधावरप्रियवरेण्यः', 'राधिकावल्लभः' आदि राधासंयुक्त विशेषणोंसे यही प्रमाणित होता है कि स्वयं वल्लभाचार्यजीने ही पुष्टि-सम्प्रदायमें राधाको उससे यथार्थ रूपमें प्रतिष्ठित किया था। श्री बल्लभाचार्यजीने राधाको कृष्णसे अभिन्न 'उनकी स्वरूपशक्ति' अथवा 'सिद्धिशक्ति' माना है और गोपियोंमें प्रमुख एवं उनकी स्वामिनी होनेसे उन्हें प्रायः 'स्वामिनी' नामसे उल्लिखित किया है।

अष्टछापके सर्वाधिक वयोवृद्ध कवि कुंभनदासजी श्री वल्लभाचार्यजीके आरम्भिक शिष्योंमें से थे। उन्होंने सर्वश्री सूरदास, परमानन्ददास प्रभृति आचार्यश्रीके अन्य शिष्योंसे पहले ही सं० १५५६ के लगभग दीक्षा ली थी और तभीसे वे निकुञ्ज-लीलासम्बन्धी माधुर्य-भक्तिके पद-गान द्वारा श्रीनाथजीका कीर्तन करने लगे। कुम्भनदासजी माधुर्य-भक्तिके प्रति इतने अनुरक्त थे कि उन्होंने अपने समस्त पदोंमें उसीका समावेश किया है, यहाँतक कि उन्होंने वात्सल्य-भक्तिका कोई भी पद नहीं रचा।

गोस्वामी विट्ठलनाथजीके कालमें राधाजीकी मान्यता बहुत बढ़ गयी थी। उन्होंने स्वयं राधा-प्रार्थना-चतुःश्लोकी, श्रीस्वामिन्यष्टक, श्रीस्वामिनी-स्तोत्र एवं स्वामिनी-प्रार्थना नामक भक्ति-भावपूर्ण सरस स्तोत्रोंकी रचना की थी और राधा-कृष्णकी युगल-उपासनापर विशेष बल दिया था। उन्होंने 'स्वामिन्यष्टक'में 'राधा' नामको समस्त वेद-शास्त्रोंका छिपा हुआ धन और गूढ मन्त्ररूप बतलाया है, जिसे सदा जपते रहनेकी उन्होंने कामना की है।

श्री वल्लभाचार्यजी द्वारा प्रतिष्ठित और गोस्वामी विट्ठलनाथजी द्वारा प्रचारित पुष्टि-सम्प्रदायके दार्शनिक सिद्धान्त और भक्तितत्त्वका सरस भाष्य पुष्टिमार्गीय भक्त-कवियोंने अपने पदोंमें किया है, जिनमें सूरदासजी अग्रगण्य हैं। उन्होंने राधाजीको परमपुरुष कृष्णकी प्रकृति और लीला-पुरुषोत्तम कृष्णके साथ उनके नित्यधाम वृन्दावनमें सतत विहाररत बतलाया है। सूरदासकृत रचनाओंमें ऐसे अनेक पद हैं, जिनमें राधा-कृष्णके नित्य-विहारका वर्णन हुआ है।

सर्वश्री निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, चैतन्यदेव और वल्लभाचार्यके भक्ति-सम्प्रदायोंसे भी अधिक स्वामी हरिदास और हित हरिवंशजीके सम्प्रदायोंमें राधिकोपासनाको महत्त्व दिया गया है। इन दोनों सम्प्रदायोंमें राधाजीकी महत्ताका आधार उनके 'नित्य-विहार'की मान्यता है, जिसका गायन अनेक रसिक महात्माओंने बड़ी तल्लीनता और निष्ठाके साथ किया है।

स्वामी हरिदासजी राधा-कृष्णोपासनाके एक विशिष्ट मतके प्रवर्तक थे। यह मत 'हरिदासी' अथवा 'सखी-सम्प्रदाय' कहलाता है। इस सम्प्रदायमें राधाजीको ही 'इष्ट' माना गया है। इसका उल्लेख श्रीभगवत रसिकजीने हरिदासी सम्प्रदायकी रूप-रेखा बतलाते हुए इस प्रकार किया है :

जुगल मन्त्र कौ जाप, वेद-रसिकन की बानी।
श्रीवृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी॥

इस सम्प्रदायके 'नित्य-विहार'की मान्दतामें मथुरा-द्वारकाकी लीलाओंके साथ ही साथ व्रजकी लीलाओंको भी स्थान प्राप्त नहीं है। व्रजकी केलि-क्रीड़ाओंमें संयोगके साथ वियोग भी है, चाहे वह क्षणिक ही हो; किन्तु 'नित्य-विहार' की चिरन्तन लीलाओंमें पलभरके लिए भी प्रिया-प्रियतमकी पृथक्ता अस्वीकृत है। स्वामीजीने अपनी रचनाओंमें राधाजीको 'वृषभानुनन्दिनी' तक नहीं कहा, बल्कि सर्वत्र श्यामा, प्यारी, लाड़िली आदि नामोंसे ही सम्बुद्ध किया है।

स्वामीजीके 'नित्यविहार-रस' का आधार चिरंतन केलि-क्रीड़ाओंमें तल्लीन 'श्यामा-कुंजविहारी' की युगल-जोड़ी है। यह घन-दामिनीके समान एक दूसरेसे अभिन्न, सहज-स्वाभाविक, सदा संग रहनेवाली और क्षणिक वियोगसे भी सर्वथा रहित है। यह जोड़ी चिरस्थायी है, जो पहले भी थी, अब भी है तथा आगे भी इसी प्रकार अचल और अडिग रहेगी। यह जोड़ी नित्य-विहार-रसकी तल्लीनतामें एक दूसरेके तन, मन और प्राणमें समा जानेके लिए सदैव लालायित रहती है :

जोरी विचित्र बनायी री माई, काहू मनके हरनकों।
ज्यो घन-दामिनि संग रहत नित, बिछुरत नांहिन और बरनकों॥
(माई री)सहज जोरी प्रगट भई जु, रंगकी गौरस्याम घन-दामिनि जैसे।
प्रथम हुती, अब हूं, आगे हूं रहिहै, न टरिहैं तैसें॥

—केलिमाल, पद सं० ४ और ५

ऐसी जिय होत, जो जीय सौं जिय मिलै।
तन सों तन समाइ ल्यो, तौं देखौं कहा हो प्यारी॥

—केलिमाल पद सं० ३५

हितहरिवंशजी स्वामी हरिदासकी भाँति ही राधा-कृष्णोपासनाके एक विशिष्ट मतके प्रवर्तक थे। यह मत 'राधावल्लभ-संप्रदाय' कहलाता है। व्रजके कृष्णोपासक धर्म-संप्रदायोंमें या तो राधाकी अपेक्षा कृष्णको प्रधानता दी गयी है या दोनोंको अभिन्न मानते हुए उनकी समान स्थिति बतलायी गयी है। किन्तु राधावल्लभ-संप्रदायमें कृष्णकी अपेक्षा राधाकी प्रधानता स्वीकृत है। कृष्णोपासक धर्म-संप्रदायोंमें पुराणादि धार्मिक ग्रन्थोंके आधारपर कृष्णको 'परतत्त्व' और उन्हें राधा द्वारा 'आराधित' बतलाया गया है, किन्तु इस संप्रदायमें राधा ही 'परात्पर तत्त्व' है और वह स्वयं कृष्णको भी आराध्या हैं। प्रत्येक संप्रदायमें परमोपास्य 'इष्ट' तथा मन्त्रदाता 'गुरु' पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु राधावल्लभ-सम्प्रदायमें राधाजी परमाराध्या एवं परमोपास्या होनेसे 'इष्ट' भी हैं और मन्त्रदात्री होनेसे 'गुरु' भी। इस सम्प्रदायकी मान्यता है कि स्वयं श्री राधाजीने ही हितहरिवंशजीको मन्त्र-दीक्षा दी थी। इस प्रकार इस संप्रदायमें श्री राधाजी परात्पर तत्त्व हैं, कृष्णाराध्या हैं, परम इष्ट हैं और साथ ही परम गुरु भी हैं। ये ऐसी विशेषताएँ हैं, जो इस संप्रदायकी राधा-सम्बन्धी भावनाको अन्य धर्म-संप्रदायोंकी राधा-विषयक मान्यताओंसे पृथक् कर देती हैं।

राधावल्लभ-सम्प्रदायकी राधासम्बन्धी उक्त भावनाके कारण ही नाभाजीने हित हरिवंशजीको 'हृदयमें राधाके चरणोंकी प्रधानता रखकर अत्यन्त सुदृढ़ उपासना करनेवाला' कहा है और उनके 'पथका अनुसरण करना' तथा उनके 'भजनकी रीति जानना' किसी पुण्यवान्‌के लिए ही सम्भव बतलाया है :

श्रीराधा-चरन प्रधान हृदै, अति सुदृढ़ उपासी।
कुञ्ज-केलि दम्पती, तहाँकी करत खवासी॥
व्यास-सुवन पथ अनुसरै, सोई भले पहिचान है।
हरिवंश गुसाईं भजनकी रीति, सुकृत कोउ जानिहै॥
—भक्तमाल, छप्पय सं ९०

स्वयं हितहरिवंशजीने भी राधाजीको प्रधानताविषयक अपनी भावनाकी स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा है कि 'कोई चाहें किसीको भी अपना उपास्य और इष्ट मानें, किन्तु दृढ़ताके साथ शपथपूर्वक कहता हूँ कि मेरेलिए तो 'प्राणनाथ' श्री राधाजी ही सब कुछ है :

रहौ कोऊ काहू मनहिं दियै।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्याम, शपथ करों तृन छिपै॥ स्फुट-वाणी, पद सं० २०

हितजी श्री राधाजीके ऐसे अनन्योपासक थे कि उन्होंने वेदोंके श्रवण और मोक्ष-प्राप्तिकी उपेक्षा तथा शुकादि-सेवित परब्रह्म कृष्णके भजनकी भी अनिच्छा करते हुए एकमात्र श्रीराधाजीके पदारविन्दके रसमें ही निमग्न होनेकी अपनी आकांक्षा व्यक्त की है।

इस विशद विवेचनका सारांश यह है कि श्रीराधाजीके उद्भव और धार्मिक-क्षेत्रमें उनकी प्रतिष्ठाके सम्बन्धमें काव्य-नाटक, इतिहास-पुराणादिमें चाहें कुछ भी कहा गया हो,
(शेष पृष्ठ ६२ पर)

कृपालु पाठकोंसे

प्रिय महोदय, प्रसन्नताकी बात है कि आपने 'श्रीकृष्ण-सन्देश'का सदस्य बनकर हमें इस योग्य बनानेमें अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया है कि हम देशके कोने-कोनेमें 'श्रीकृष्ण-सन्देश'के माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णके धर्मोपदेशोंका प्रचार-प्रसार करनेके साथ उनके पावन जन्मस्थानको विकसित करके देश-विदेशके जिज्ञासुओंके लिए एक दिव्य प्रेरणादायक केन्द्र बनानेमें उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करते जा रहे हैं। चालू वर्षके अंक अभीतक हम पाठकोंकी सेवामें विलम्बसे भेज सके हैं, इसके लिए क्षमा चाहते हैं और इस बातकी चेष्टा कर रहे हैं कि सभी पाठकोंकी सेवामें अंक अपने समयपर पहुँच जाया करें।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आपका यह पत्र आपके सहयोगसे उत्तरोत्तर लोकप्रियता ग्रहण करता जा रहा है। फिर भी हमें यह लिखनेमें संकोच होता है कि 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अभीतक पूर्णरूपसे स्वावलम्बी नहीं हो पाया है। इसकी छपाई, कागज तथा डाक-व्यय इसके लिए बहुत अधिक व्ययसाध्य है। वैसे इसकी हम चेष्टा कर रहे हैं कि सामग्री पाठकोंके मनोनुकूल दी जाय।

अतः आपसे सादर, सविनय निवेदन है कि आप अपने क्षेत्रमें अपने मित्रों, सम्बन्धियोंको इसके सदस्य बननेके लिए प्रेरित करनेकी कृपा करें अथवा उन श्रीकृष्ण-भक्तोंके नाम-पते, जो इसके सदस्य बन सकें, हमारे पास लिख भेजनेकी कृपा करें, जिससे हम उनसे सदस्य बननेकी प्रार्थना कर सकें।

आशा है, आप 'श्रीकृष्ण-सन्देश'को स्वावलम्वी बनानेके लिए अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक : श्रीकृष्ण-सन्देश

(पृष्ठ ६१ का शेषांश)

भावुक भक्तोंके लिए उनका पृथक् महत्त्व है। उनकी दृष्टिमें श्रीराधाजीका अस्तित्व अनादि कालसे है। उनका उद्भव भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यकी भाँति ही दिव्य रूपमें हुआ है। अतः वे सर्वथा अनिर्वचनीय एवं अकथनीय हैं। व्रजके राधा-कृष्णोपासक धर्माचार्यों एवं भक्त-कवियोंने इसी तथ्यको विविध प्रकारसे वर्णित किया है। भारतके धार्मिक-क्षेत्रके साथ ही साथ यहाँके लोक-जीवनमें भी यही तथ्य मान्य है, और इसकी इतनी गहरी छाप है कि वह किसी तर्क या विवादसे निकट भविष्यमें मिटनेवाली नहीं है।

यः कृष्णः सापि राधा च या राधा कृष्ण एव सः।
एकं ज्योतिर्द्विधा भिन्नं राधा - माधवरूपकम् ॥
रसो यः परमानन्द एक एव द्विधा सदा।
श्री राधाकृष्णरूपाभ्यां तस्मै तस्मै नमो नमः ॥

महानगरोंके विकासके लिए

"राकफोर्ड" मार्का डालमिया पोर्टलैण्ड सिमेंट

निर्माता

डालमिया सिमेंट (भारत) लिमिटेड

डालमियापुरम् (तमिलनाडु)

तथा

लौह-अयस्क निर्यातक

मुख्य कार्यालय :

४, सिंधिया हाउस,

नयी दिल्ली-१

नीतिवचनामृत

उद्यम और पुरुषार्थकी महत्ता

उद्यमेन हि कार्याणि सिद्ध्यन्ति न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

उद्यमसों कारज सरै मन-मोदक सों नाहिं ।
मुहमैं सोअत सिंहके मृग नहि आप समाहिं ॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥

एकहि पहिये तें जथा रथ चलि सकइ न कोय ।
त्यौं पुरुषारथके बिना दैव सिद्ध नहिं होय ॥

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥

उद्योगी नरसिंहको लक्ष्मी मिलइ सदैव ।
कायर नर कहते फिरैं हमको दैहै दैव ॥
निज बल सों पौरुष करिय दैवहिं मारि सरोष ।
जतन किये हू नहिं सरै तौ काहू नहिं दोष ॥

सूक्ति-सुधा

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुण - बिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

बाँसुरी सुरीली शोभमान करती है कर
आभा तनमें है नवजलधर - वृन्द की,
लसित ललित पीत पट परिवीत अङ्ग
बिम्ब-फल को-सी विभा अधर अनिन्द की ।
पूनो चंद मंद देख सुंदर अमंद मुख
छीन ले रहे हैं छबि दृग अरविन्द की,
जानूं मैं मुकुन्दसे परम कोई तत्त्व नहीं
उपमा कहीं न नन्दनन्दन गुविन्द की ॥

श्रीकृष्ण जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, ढुण्ढिराज वाराणसी-१ में मुद्रित एवं प्रकाशित